# ह्या-ग्रन्थ

पुष्प




विद्यानन्द विदेह

27





# यजुर्वेद-व्याख्या

## चतुर्थ पुष्प

गृहस्थाश्रम में आत्मसाधना द्वारा
संसिद्धि-प्राप्त आत्मसाधक
देवयाजक बनकर

# सम्पूर्ण पृथिवी का दिव्यीकरण

करने के लिये
देवयजन
कररहे
हैं



विद्यानन्द विदेह

एक रुपया

प्रथम संस्करण [ २०१६ वि : १९६० ई० ] ... २०००

प्रकाशक : देवसंस्थान, अजमेर
मुद्रक : आदित्य मुद्रणालय, अजमेर

271




# व्याख्याग्रन्थों पर प्राप्त कुछ सम्मतियां

## द्वितीय तथा तृतीय पुष्पों में प्रकाशित सम्मतियों के अतिरिक्त हाल में प्राप्त कतिपय विशेष सम्मतियां यहां उद्धृत की जाती हैं—

आपका वेदभाष्य पढ़कर जो आनन्द प्राप्त हुआ, वह शब्दों का विषय नहीं। समयप्रवाह से उत्पन्न हुये सब झंझटों से मुक्त वेद को अपने रूप में यहां [आपकी वेदव्याख्या में] देखा जा सकता है।

**—पं० हरिशरण वेदालंकार**

तृतीय पुष्प भी उतना ही सुरभिस्निग्ध है, जैसे पहले दो पुष्प। सभी कुछ सुसंगत, सरस और सुन्दर है। वेद सर्वप्रिय हो नहीं सकते, जब तक सर्वसाधारण की समझ में न आयें। इस विषय में श्री विदेह जी का अब तक का प्रयास सफल और श्लाघ्य है।

**—पं० गंगाप्रसाद उपाध्याय**

तृतीय पुष्प मिला। आध्यात्मिक दृष्टि से आपका यह कार्य बहुत महत्त्वपूर्ण है। व्याख्या बहुत पाण्डित्यपूर्ण है। प्रयत्न स्तुत्य है।

**—डा० वृन्दावन लाल वर्मा**

तृतीय पुष्प के पढ़ने से पता चलता है कि वेद में किस सूक्ष्म और पैनी दृष्टि से जीवन की गति और उसके विकास पर विचार किया गया है। वेद के गहन और रहस्यमय विचारों का विदेह जी ने बड़े ही विद्वत्तापूर्ण और सरल ढंग से ऐसा स्पष्टीकरण किया है कि व्याख्या पढ़ते पढ़ते हृदय आनन्दित होजाता है, वेदज्ञान की दुरूहता सरलता में बदल जाती है। व्याख्या की भाषा और विचारों का प्रवाह बड़ा ही सुन्दर है। एक एक शब्द और भाव को विदेह जी ने बड़े ही वैज्ञानिक ढंग से स्पष्ट किया है।

**—नव भारत टाइम्स**

बड़े भाग्य से वेदव्याख्या के पुष्प मिले। ऐसा उत्तम भाष्य और किसी विद्वान् ने नहीं किया है। प्रभु की अन्तःप्रेरणा से ही यह भाष्य सम्भव हुआ है। भारी परिश्रम हुआ है। वेदप्रेमियों पर बड़ा उपकार हुआ है।

**—श्री सनातन स्वामी**

विदेह जी वैदिक वाङ्मय के सुप्रसिद्ध मर्मज्ञ व्याख्याता हैं। उनके परिश्रम का मूल्यांकन तो सौ दो सौ वर्ष बाद होगा। महर्षि दयानन्द और योगेश्वर अरविन्द के बाद वेदप्रचारकों में सातवलेकर और विदेह—ये ही दो नाम आते हैं।

**— पं० जगत्कुमार शास्त्री**

तृतीय पुष्प आद्योपान्त पढ़ा। उपादेय सामग्री से परिपूरित यह ग्रन्थ साधकों का मार्ग प्रशस्त करेगा। "साधना गृहत्यागी ही कर सकते हैं", यह पुष्प इस भ्रान्ति को दूर करेगा। इसमें गृहस्थधर्म की खोई हुई प्रतिष्ठा पुनः स्थापित होगी।

**—महात्मा वेदव्रत**
[अब स्वामी वेदमुनि परिव्राजक]

तृतीय पुष्प पढ़ा। कृतार्थ हुआ। पूर्व पुष्पों की भांति ही मनोहारी है। श्री विदेह जी की दृष्टि शुद्ध आध्यात्मिक है, जो सर्वथा प्रशंसनीय है।

**—डा० बाबूराम सक्सेना**

वेदार्थ-जिज्ञासुओं एवं वैदिक साहित्य के अध्येताओं के लिए तृतीय पुष्प संग्रहणीय है। यह विशाल कार्य पूरा होगया तो हिन्दी भाषा के एक बड़े अभाव की पूर्ति होने के साथ साथ वेद के सम्बन्ध में फैली अनेक भ्रान्तियों का निराकरण भी होगा।

**—श्री आंगिरस**

विदेह जी की शैली की दो बड़ी विशेषतायें हैं—(१) असाम्प्रदायिक दृष्टिकोण, (२) प्रत्येक मन्त्र के काव्यरस को खोज निकालने की शक्ति। वे मूलतः रसदर्शी हैं, जिससे उनकी व्याख्यायें केवल निरुक्त व्याकरण के बल पर लिखी गयी व्याख्याओं की तरह रूखी न होकर सरस व प्रवाहमयी हैं। वेदों को सबकी सम्पत्ति बनाने में यह उपयोगी है। ग्रन्थ की छपाई आदि उत्तम है।

**—भारती बम्बई**

मैंने वेदव्याख्याग्रन्थ के तीनों पुष्प पढ़े। विदेह जी ने वेद को सरल, सुबोध और सुललित भाषा में सर्वसाधारण जनता तक पहुंचाने का जो सफल प्रयत्न किया है, उसके लिए हम सब उनके आभारी हैं।

विदेह जी का वेदप्रेम, पवित्र सरल जीवन, अनुपम भाष्यशैली, निस्स्वार्थ सेवा तथा मधुमय मोहक उपदेशकला नितान्त अनुकरणीय हैं।

—सन्तराम अजमानी

आदरणीय आचार्य श्री विद्यानन्द जी विदेहकृत वेदव्याख्याग्रन्थों के तीनों मनोहर पुष्पों को मैंने बड़े ध्यान से रसपूर्वक दो बार पढ़ा। इतनी सरल, इतनी रुचिकर, इतनी सुबोध और इतनी हृदयहारिणी विस्तृत व्याख्या है कि साधारण शिक्षित नर एवं नारी वेदमन्त्रों के तात्पर्य को सहजतया समझ सकते हैं।

महर्षि योगीश्वर स्वामी श्री दयानन्द सरस्वती के वेदभाष्यों के सतत अनुशीलन से ही प्रबल प्रेरणा पाकर श्री विदेह जी ने ईश्वरीय ज्ञानस्वरूप वेदों के मंगलमय उपदेश विश्व में जन-जन के हृदय-पटल पर अंकित करने के शुभ उद्देश्य से अपना सारा अमूल्य जीवन इस परोपकारक सुकृत्य में समर्पित कर दिया है।

परस्पर मन्त्रों की सुसंगति एवं तद्गत पदों की निरुक्ति श्री विद्वन्मानस को बलात् आकृष्ट करती है। निस्सन्देह, योग की अन्तर्दृष्टि से ही ऐसी व्याख्या हो सकती है।

ऐसी बुद्धिसंगत, भावपूर्ण, वैज्ञानिक भाष्यशैली के लिए मैं सुहृद्वर श्री विदेह जी को हार्दिक धन्यवाद देता हूं और ओं परमपिता परमात्मा से प्रार्थना करता हूं कि "ये मनीषीप्रवर विदेह जी शतायु से भी अधिक जीवन धारण कर इस जनकल्याणकारी महनीय वेदभाष्य को प्रकाशित कर अखिल मानव-जाति के अभिनन्दनीय बनें तथा महर्षि के मनोवाञ्छित कार्य को पूर्ण कर विद्वज्जन के स्तुतिभाजन हों"।

मुनि श्रीमन्मेधाव्रताचार्य आर्य कवीन्द्र,
अध्यक्ष, दिव्यकुञ्ज योगाश्रम, कुसूर, येवला [नासिक]

गूढ़ मन्त्रों के ऐसे सबोध, सरस एवं हृदयग्राही अर्थ देखकर यह आश्चर्य होता है कि इस प्रकार के भी अर्थ सम्भव हैं, जोकि न केवल यथार्थ एवं हृदयंगम ही हैं, अपि तु स्फूर्तिदायक भी हैं। भाषा एवं शैली अत्यन्त सुललित तथा आकर्षक है। वैदिक वाङ्मय के विशिष्ट शब्दों की विचित्र किन्तु परम बुद्धिगम्य व्याख्या, व्युत्पत्ति तथा स्पष्टार्थ यह सिद्ध करते हैं कि विदेह जी निस्सन्देह ऋषि हैं। वैदिक संस्कृति के सभी उपासकों को उनके वेदव्याख्या-यज्ञ में सहयोग देना चाहिये।

—प्रो० शिवानन्द शर्मा,

आपने वेदों का जो सरलार्थ किया है, वह सब प्रकार से उपादेय है। वैदिक वाङ्मय का गम्भीर मन्थन कर ज्ञान का नवनीत इसी प्रकार सर्वजन-संवेद्य बनाया जा सकता है। आपकी शैली शौष्ठवपूर्ण और अभिव्यक्ति अत्यन्त स्पष्ट है। आप में किसी प्रकार का दुराग्रह भी नहीं, इससे वैदिक साहित्य के प्रति लोगों का सम्मान होगा।

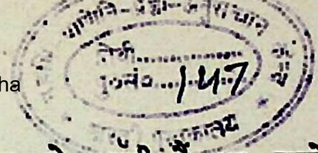
—अक्षयचन्द्र शर्मा
अध्यक्ष, भारतीय विद्या मन्दिर शोध प्रतिष्ठान, बीकानेर

आपका वेदश्रम पृथिवी की समस्त प्रजा के मानस में वेद के प्रति श्रद्धा की स्थापना करेगा।

—स्वामी अनन्तानन्द सरस्वती
(विदर्भ)

श्री स्वामी जी ने यह व्रत ग्रहण किया है कि वे सारे वेदों का भाष्य इसी पद्धति से करेंगे। आपने अपने इस कार्य में परम्परागत पद्धतियों को तोड़कर सर्वथा स्वतन्त्र पद्धति का अवलम्बन किया है। इसमें विद्वानों के लिए मतभेद की काफ़ी गुंजाइश होते हुए भी इतना तो निःसन्देह कहा जा सकता है कि श्री स्वामी जी ने जिस पद्धति को अपनाया है वह सर्वथा सरल, स्पष्ट और सहजगम्य है तथा सामान्य पुरुषों के लिए उपयोगी है। अगर वेदों का जनता में प्रचार करना है तो उसके भाष्य का तरीक़ा ऐसा ही होना चाहिए। इस दृष्टि से स्वामीजी महाराज का प्रयत्न अत्यन्त प्रशंसनीय है। इस भाष्य की एक और विशेषता है, जिसका उल्लेख करना आवश्यक है। वह है मन्त्रों का पूर्वापर सम्बन्ध लगाने का प्रयत्न।

—पं० दीनानाथ सिद्धान्तालंकार



प्रस्तुत ग्रन्थ में, जिसका यह प्रथम भाग है, आचार्य विद्यानन्द विदेह ने सामान्य शिक्षित जन के लिये वेदों का भाष्य प्रारम्भ किया है। उनकी वेदभाष्य-शैली सरल और सुबोध है। केवल शब्दार्थ या भावार्थ नहीं, मन्त्र के प्रत्येक शब्द की व्याख्या और अपने अर्थ की पुष्टि में युक्ति इसकी विशेषतायें हैं। आचार्य जी का वेदाध्ययन जहां एक ओर गम्भीर है, वहां वेदप्रचार की जागरूक और दीर्घकालीन भावना के कारण वे पाठक के निकट सम्पर्क में रहकर उसकी आवश्यकता भी भली भांति जानते हैं। इसलिये विभिन्न स्थलों पर व्याख्यान की सी विचार-प्रधान विस्तृत शैली के दर्शन होते हैं। एक मन्त्र के चिन्तन से जो भावनायें विद्वान् लेखक के हृदय में उद्भूत हुईं, उन सबका उल्लेख करने में लेखक ने संकोच नहीं किया। इसकी सबसे बड़ी विशेषता है प्रत्येक मन्त्र की परस्पर संगति का दर्शन।

वेदार्थ-शैली और विशेषकर मन्त्रों के साक्षात् दर्शन के सम्बन्ध में विद्वान् लेखक की कई ऊंची स्थापनायें हैं, जिनका उनके भाष्य में अनुसरण किया गया है। उनके मतानुसार वेदमन्त्रों के अनेक अर्थ नहीं किये जा सकते। प्रत्येक मन्त्र का एक सुनिश्चित अर्थ है। गौण वृत्ति से दूसरे परिणाम निकाले जा सकते हैं। व्याकरण, व्युत्पत्तिवाद, प्रमाणवाद, इतिहास, विनियोग के आधार पर वेद की व्याख्या करना भी भ्रान्तिजनक होगा। संयमपूर्वक योगाभ्यास, अन्तर्दृष्टि और अन्तःश्रवण से वेद की ग्रन्थियां खुलती हैं। वेद की व्याख्या के लिये किसी परतःप्रमाण की आवश्यकता नहीं है।

इसमें सन्देह नहीं कि विभिन्न वादों को वेद के मन्त्रों से सिद्ध करने की भावना ने वेदों की यह स्थिति करदी है कि उनसे जो चाहो अर्थ निकाल लो। आस्तिक व नास्तिक दोनों वेद का प्रामाण्य मानते हैं और ईश्वर की सत्ता या असत्ता वेदों से सिद्ध करते हैं। इस स्थिति में सुनिश्चितार्थता विलुप्त हो गयी। आचार्य विदेह इस विषम स्थिति को स्वीकार करने से इन्कार कर देते हैं। उनकी स्थापनायें विद्वत्समाज में विवादास्पद हो सकती हैं, पर इससे साधारण पाठक का हृदय किसी उलझन में नहीं पड़ता। वह वेदमन्त्रों का अध्ययन करते हुए उनमें ठीक उसी तरह रस लेने लगता है, जैसे उनका मधुर भाषण सुनते हुये। इस दृष्टि से हम इस प्रयत्न का हार्दिक स्वागत करते हैं और आशा करते हैं कि वेदव्याख्या का यह प्रथम प्रयास, जो असाधारण व्यय, श्रम और शक्ति की अपेक्षा रखता है, सफल होगा। कागज़ की छपाई सफ़ाई की दृष्टि से भी यह प्रकाशन प्रशंसनीय है।

—पं० कृष्णचन्द्र विद्यालंकार

यह हर्ष का विषय है कि वेदसाहित्य के प्रकाण्ड विद्वान् स्वामी विद्यानन्द विदेह ने सरल और सुबोध भाषा में चारों वेदों की व्याख्या प्रस्तुत करने का ससंकल्प आयोजन किया है। अपने जीवन भर के गहन अध्ययन, मन्थन, चिन्तन तथा साधना-तपस्या का लाभ सबको पहुंचाने का व्रत लिया है। इस महान् प्रयास को सफल बनाने में केन्द्रीय सरकार तथा राज्य सरकारों को सहायता देनी चाहिये। धनी मानी व्यक्तियों तथा साहित्य-संस्थाओं का भी यह कर्तव्य है कि इस सदनुष्ठान में हाथ बटायें।

व्याख्या की शैली सुन्दर और हृदयग्राही है। पग पग पर इस बात का प्रमाण मिलता है कि विद्वान् भाष्यकार को वेदों का बड़ा गहन ज्ञान है और प्रत्येक मन्त्र का अर्थ बड़ी गहराई के साथ समझ रखा है। प्रस्तुत वेद-व्याख्या की एक विशेष बात यह है कि मन्त्रों का पूर्वापर सम्बन्ध दिखाया गया है। भाषा में ओज और प्रवाह है। व्याख्या को समझने में कोई कठिनाई नहीं पड़ती। छपाई और कागज़ बढ़िया है।

विदेह जी का यह संकल्प एवं अनुष्ठान पूरा होगया तो राष्ट्र भाषा के साहित्य में एक अमूल्य ग्रन्थ-रत्न प्रस्तुत हो जायेगा।

—दैनिक "भारत"

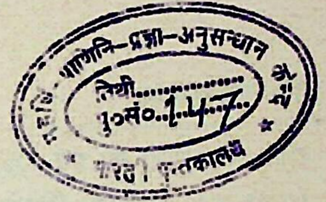
# आत्म-निवेदन

यस्माहृते न सिध्यति यज्ञो विपश्चितश्चन ।
स धीनां योगमिन्वति ॥ (ऋ० १. १८. ७)
जिसके बिना सिद्ध जन की भी नहीं साधना होती सिद्ध ।
प्रेर रहा है योग धारणाओं का मेरी वही प्रवृद्ध ॥

कतिपय विद्वानों के आग्रहपूर्ण परामर्श का आदर करते हुए दसवें मन्त्र से मैंने व्याख्याओं के क्रम में कुछ परिवर्तन तथा संक्षेप किया है। किन्तु उससे व्याख्या की सुस्पष्टता तथा सुरोचकता में कोई अन्तर नहीं आया है। इस सम्बन्ध में पाठकों व पाठिकाओं की सम्मतियों का मैं स्वागत करूंगा ॥

व्याख्याग्रन्थों के प्रकाशन की गति निस्सन्देह बहुत धीमी है। दोष किसका बताऊं ? पर मैं निर्दोष हूं और ध्रुवता के साथ, अपनी सम्पूर्ण क्षमता और अविचल धारणा के साथ, अपने अक्षुण्ण आत्म-विश्वास के साथ इस सुपावन साध में, इस विश्वतोधार यज्ञ में, लगा हुआ हूं। आपकी आप जानें !!!

—विदेह



# यजुर्वेद-व्याख्या

चौथा-अध्याय

## देवयजन

एदमगन्म देवयजनं पृथिव्या यत्र देवासो अजुषन्त विश्वे।
ऋक्सामाभ्यां सन्तरन्तो यजुर्भी रायस्पोषेण समिषा मदेम।
इमा आपः शमु मे सन्तु देवीरोषधे त्रायस्व स्वधिते मैनं हिंसीः॥ (य० ४।१)

आ इदं अगन्म देव-यजनं पृथिव्याः यत्र देवासः अजुषन्त विश्वे।
ऋक्-सामाभ्यां सं-तरन्तः यजुःभिः रायः पोषेण सं इषा मदेम।
इमाः आपः शं उ मे सन्तु देवीः ओषधे त्रायस्व स्व-धिते मा एनं हिंसीः॥

१) हमने (पृथिव्याः इदं देव-यजनं आ अगन्म) पृथिवी के इस देवयजन को प्राप्त कर लिया है।
२) (यत्र) जहां (विश्वे देवासः) सब देव (अजुषन्त) सप्रेम सेवन किया [करेंगे]।
३) हम (ऋक्-सामाभ्यां) ऋक् और साम के द्वारा, (यजुःभिः) यजुओं के द्वारा, (रायः पोषेण) आत्मैश्वर्य की पुष्टि से तथा (इषा) इच्छा से (सं-तरन्तः) सम्यक् तरते हुये (सं मदेम) सम्यक् आनन्द भोगें।
४) (इमाः देवीः आपः) ये दिव्य आपः (मे शं उ सन्तु) मेरे लिये शमनयित्री ही हों।
५) (ओषधे)! (त्रायस्व) तार।
६) (स्व-धिते)! (एनं मा हिंसीः) इसे मत हिंस॥

देव-यजन नाम है दिव्यताओं की प्राप्ति के यज्ञ का, दिव्यताओं की प्रस्थापना की साधना का।

आपः शब्द का प्रयोग जल के अर्थ में होता है और सदा बहुवचन में होता हैं। यहां आपः शब्द का प्रयोग धाराओं के अर्थ में हुआ है।

ओषधिर्वै दोषधिः। जो दोष का निवारण करे, उसे ओषधि कहते हैं। यहां ओषधि शब्द का प्रयोग दोषनिवारक देव-यजन के लिये हुआ है।

स्वधिति = स्व-धिति, स्व-धारणशक्ति, स्व धारणा, आत्म-धारणा।

तीसरे अध्याय में आत्मसाधकों ने संसिद्धि प्राप्त करली है। वे अब किसी एक देश या राष्ट्र विशेष के नागरिक नहीं रहे हैं, सारी पृथिवी के नागरिक बन गये हैं। उनकी ममता समता में समा गयी है। मनुष्य-मात्र ही नहीं, प्राणी-मात्र अब उनका अपना होगया है। उनकी समता ने सबको अपनालियां है। वे अब सम्पूर्ण पृथिवी का देवयजन करेंगे, सारी पृथिवी को दिव्ययज्ञस्थली बनायेंगे, सारी पृथिवी का दिव्योकरण करेंगे।

आत्मसंसिद्धि प्राप्त करके आत्मसाधक कहते हैं—

१) हमने (पृथिव्याः इदं देव-यजनं आ अगन्म) पृथिवी का यह देव-यजन प्राप्त कर लिया है। हमने इस वसुन्धरा के दिव्यीकरण की साधना का निश्चय किया है। हमने संकल्प किया है कि हम सारी वसुधा पर दिव्यताओं की व्याप्ति के सुयाग का सत्र संचालित करेंगे।

२) दिव्यीकरण के द्वारा, इस पृथिवी पर निवास करनेवाले मानवों को हम ऐसा दिव्य जन बनायेंगे

और इस पृथिवी को हम वह दिव्य स्थली बनायेंगे, (यत्र) जहां, जिसपर (विश्वे देवासः) सब दिव्य जन, दिव्यताओं का (अजुषन्त) सप्रेम सेवन किया करेंगे, जहां के सब जन दिव्य जन बनकर दिव्यताओं का आस्वादन किया करेंगे।

३) दिव्यीकरण के देवयजन से वह दिन आये कि (ऋक्-सामाभ्यां यजुर्भिः) ऋग्वेद की स्तुति, सामवेद की उपासना और यजुर्वेद के श्रेष्ठकर्मविधायक मन्त्रों की साधना के द्वारा (रायः पोषेण, इषा) आत्मैश्वर्य के पोषण व दृढ़ेच्छाशक्ति के साथ (सं तरन्तः) सम्यक् तरते हुये, हम (सं मदेम) सम्यक् आनन्द भोगें, आनन्द का संसेवन करें।

ऋग्वेद से स्तुति की जाती है, यजुर्वेद से यजन किया जाता है, सामवेद से गीतिमय उपासना की जाती है, अथर्ववेद से रायस्पोषण किया जाता है। यहां ऋक् शब्द का प्रयोग स्तुति के अर्थ में, साम का प्रयोग उपासना के अर्थ में और यजुर्भिः का प्रयोग श्रेष्ठकर्मों के अर्थ में हुआ है। स्तुति, उपासना और श्रेष्ठकर्मों के अनुष्ठान से रायस्पोषण स्वयमेव प्राप्त होजाता है। स्तुति, उपासना और यजन [श्रेष्ठकर्मानुष्ठान]—साधना के ये तीन ही साधन हैं। अतः इन तीनों का यहां उल्लेख किया गया है।

इस साधनत्रय से जहां रायस्पोषण होता है, वहां इच्छाशक्ति का दृढ़ीकरण भी होता है। रायस्पोषण वह नौका है और दृढ़ेच्छा वह पतवार है, जिनके अवलम्ब से दिव्य जन दुःख और क्लेश को तरते हैं और आनन्द का आस्वादन करते हैं।

४) (इमाः देवीः आपः मे शं उ सन्तु) ये दिव्य धारायें मेरे लिये शमनकारिणी ही हों, ताप सन्ताप निवारिणी ही हों।

"मे" शब्द का प्रयोग व्यक्तिवाचक है। "मे" से तात्पर्य यहां "व्यक्ति-व्यक्ति अथवा जन-जन के लिये" से है, यद्यपि "मे" का शब्दार्थ "मेरे लिये" है। पृथिवी पर देवयजन की वे दिव्य धारायें सुप्रवाहित हों कि जन-जन बोल उठे, "ये दिव्य धारायें मेरे लिये शंकरी ही हों, मेरे लिये मुबारिक ही हों"।

५) (ओषधे) दोषनिवारक देवयजन! (त्रायस्व) पृथिवी भर के प्राणियों के ताप सन्ताप का निवारण कर।

देवयजन से ही पृथिवी के प्राणियों के दुःख और सन्ताप का निवारण होगा, आसुरी कृत्यों से नहीं।

६) (स्व-धिते) आत्म-धारणे! (एनं मा हिंसीः) इसको मत हिंस, इस देवयजन की हिंसा न कर, इस देवयजन का परित्याग न कर।

आत्म-धारणा से ही देवयजन का निरन्तर संचालन होता है। आत्मधारणा के शिथिल पड़ जाने पर देवयजन का प्रवाह मन्द पड़ जाता है या बन्द होजाता है।

प्राप्त कर लिया हमने देखो,
पृथिवी के इस देवयजन को,
जहां देव सब प्रीतिपूर्वक सेवन करते।
स्तुति और उपासना और सुकर्मों द्वारा,
होकर पुष्ट आत्मपुष्टि से दृढ़ इच्छा से,
तरते हुये सदा हम विचरें ब्रह्मानन्द में।
शमनकारिणी ही होवें ये,
मेरे लिये दिव्य धारायें।
तार ओषधे, त्याग न इसको आत्मधारणे॥

सूक्ति—ओषधे त्रायस्व॥
तार ओषधे॥

आपो अस्मान्मातरः शुन्धयन्तु घृतेन नो घृतप्वः पुनन्तु ।
विश्वं हि रिप्रं प्रवहन्ति देवीरुदिदाभ्यः शुचिरा पूत एमि ।
दीक्षातपसोस्तनूरसि तां त्वा शिवां शग्मां परिदधे भद्रं वर्णं पुष्यन् ॥
[ऋ० १०.१७.१०, अ० ६.५१.२] (य० ४।२)

आपः अस्मान् मातरः शुन्धयन्तु घृतेन नः घृत-प्वः पुनन्तु ।
विश्वं हि रिप्रं प्र-वहन्ति देवीः उत् इत् आभ्यः शुचिः आ पूतः एमि ।
दीक्षातपसोः तनूः असि तां त्वा शिवां शग्मां परि-दधे भद्रं वर्णं पुष्यन् ॥

१) (आपः मातरः अस्मान् शुन्धयन्तु) आपः मातायें हमें शोधें ।
२) (घृत-प्वः नः घृतेन पुनन्तु) घृत-पु हमें घृत से पवित्र करें ।
३) (देवीः हि विश्वं रिप्रं प्र-वहन्ति) दिव्यतायें ही समस्त मल को प्रवाहती हैं ।
४) (शुचिः पूतः) शुद्ध पवित्र मैं (आभ्यः इत्) इनसे ही (उत् आ एमि) उत्-गमन करता हूं ।
५) तू (दीक्षा-तपसोः तनूः असि) दीक्षा और तप की विस्तारिका है ।
६) (भद्रं वर्णं पुष्यन्) भद्र वर्ण को पुष्टता हुआ (तां त्वा शिवां शग्मां परि-दधे) उस तुझ शिवा शग्मा को परि-धारता हूं ॥

आपः विशेषण है मातरः का । आपः नाम जल का है । आपः मातरः से तात्पर्य है जल के समान शीतल, शान्त, सिंचनशीला, शोधयित्री माताओं से ।

अस्मान् तथा नः, दोनों ही शब्दों का अर्थ है हमको या हमें । यहां इनका प्रयोग समष्टि के लिये हुआ है और अहं या मैं का प्रयोग हुआ है व्यष्टि अथवा व्यक्ति के अर्थ में ।

घृतप्वः=घृत+प्वः=घृत से पवित्र करनेवाले । घृत स्निग्धता का प्रतीक है । स्निग्ध पदार्थ बुद्धिवर्धक होता है और प्रज्वलन भी करता है । बोधन और प्रज्वलन से निस्सन्देह शोधन अथवा पूतीकरण होता है । घृतप्वः से यहां तात्पर्य है घृतवत् सन्तान का शोधन, बोधन और प्रज्वलन करनेवाले पिता ।

व्रतेन दीक्षामाप्नोति—मनुष्य व्रत से दीक्षा को प्राप्त होता है । वेद की इस उक्ति के अनुसार व्रत धारण करने का नाम दीक्षा है । व्रत धारण करके मनुष्य दीक्षित कहलाता है ।

संयम और श्रम के संयोग का नाम तप है । संयम से श्रम की सिद्धि होती है । संयम में श्रम निहित है । संयम आत्मा का विषय है और श्रम शरीर का । तप [संयम और श्रम] से ही दीक्षा सफल होती है ।

शग्म के दो अर्थ हैं—कर्म और सुख । कर्म से ही सुख की सिद्धि होती है । सुखप्रद सुकर्म का ही नाम शग्म है ।

भद्र शब्द दुरित का उल्टा है । जो कुछ दुः है, बुरा है, वह सब दुरित है । जो कुछ सु है, भला है, शुभ है, श्रेष्ठ है, वह सब भद्र है । वर्ण नाम वरणीयता का है । रञ्ज से रञ्जीनी अथवा वरणीयता आती है, इसी से वर्ण नाम रञ्ज का भी है । ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र स्व स्व वरणीयता विशेष के कारण ही वर्ण कहलाते हैं । "भद्र वर्ण" का प्रयोग

यहां शालीन सुधन्य सौन्दर्य के अर्थ में हुआ है।

१) इस पृथिवी के (अस्मान्) हम सब मानवों को (आपः मातरः) जलशीला मातायें (शुन्धयन्तु) शुद्ध करें।

आपः नाम जल का है। आपः शब्द यहां मातरः का विशेषण है। शीतलता, शोधन और सिंचन जल का गुण है। शीतल जल से सिंचन के अतिरिक्त शोधन भी होता है। सभी वस्तुयें जल से धुलकर शुद्ध होती हैं।

जल के समान शीतल, शान्त, सुशीला और सिंचनशीला मातायें मानव समाज के दिव्यीकरण का सर्वप्रथम और सर्वोपरि साधन हैं। मातायें ही मानव-सन्तति की आदि गुरु अथवा आदि आचार्य हैं। वे ही मानव-सन्तति की जन्मदात्री और जीवन-निर्मात्री हैं। पृथिवी के दिव्यीकरण के लिये आदर्श माताओं के निर्माण की अनिवार्यता प्रत्यक्ष है।

२) (घृत-प्वः) घृतवत् प्रबोध और प्रकाशन द्वारा पवित्रता करनेवाले पिता (घृतेन) स्नेहपूर्वक (नः) हम सब मानवों को (पुनन्तु) पवित्र करें।

दुग्ध अथवा दधि का प्रचुर विलोडन करने से मक्खन अथवा लौनी निकलती है। फिर मक्खन अथवा लौनी को तपाकर छाना जाता है। तब घृत तय्यार होता है। घृत के समान तपःपूत पिता मानव-सन्तति के दिव्यीकरण का द्वितीय साधन हैं। पिता ही मानव सन्तति के द्वितीय गुरु अथवा आचार्य हैं।

३) जब मातायें शोधयित्री और पिता पवित्रकर्ता होते हैं, तब ही मानव-सन्तति में दिव्यताओं का द्योतन होता है और तब (हि) ही (देवीः) दिव्यतायें, मानव और मानवता के (विश्वं रिप्रं) समस्त मल को, सम्पूर्ण दोषसमूह को (प्र-वहन्ति) बहा ले जाती हैं, धो डालती हैं।

४) दिव्यीकरण के इन दिव्य प्रवाहों में समुन्नत होता हुआ प्रत्येक मानव अनुभव करता है कि मैं (आभ्यः इत्) इन दिव्यताओं से ही (शुचिः पूतः) शुद्ध पवित्र होकर (उत् आ एमि) ऊपर उठ रहा हूं, उत्कृष्टता का सम्पादन कर रहा हूं।

५) दिव्यताओं की प्राप्ति के साथ ऊपर उठता मानव अनुभव करता है कि उसकी तनू दीक्षा और तप का साधन है और उसी भाव से वह कहता है—मेरी तनु ! तू (दीक्षा-तपसोः तनूः असि) दीक्षा और तप की विस्तारिका है।

तनू का अर्थ है विस्तार करनेवाली। विस्तार विकास का साधन होने से मानवशरीर तनू है। जब पृथिवी पर आसुरी माया प्रवाहित होती है तो प्रत्येक मानव समझता है कि मानवतनू भोग विलास के लिये है। जब पृथिवी पर दिव्यताओं का दिव्य प्रवाह प्रवाहित होता है तो जन जन अनुभव करता है कि मानवतनू दीक्षा और तप की सुविस्तारिका है। दीक्षा और तप के विस्तार से ही दिव्यताओं का द्योतन और पृथिवी का दिव्यीकरण होता है। देवयजन के लिये दीक्षा और तप के विस्तार की प्रत्यक्ष आवश्यकता है।

६) दीक्षा और तप से सुसंस्कृत मानव-तनू वह शिव और पुण्यकर्मा परिधान है, जिसका परिधारण करके मानव भद्र वर्ण का सुपोषण करता है। दीक्षा और तप से सुभूषित मानवतनू वह शिव सुन्दर पोषाक है, जिसे पहन कर मानव सुधन्य सौन्दर्य का सम्पादन करता हुआ सुखप्रद सुकर्म करता है। दिव्यताओं से द्योतित मानव इसी भाव

को प्रकाशित करता हुआ कह रहा है—मेरी तनु ! दीक्षा और तप से तेरे (भद्रं वर्णं पुष्यन्) भद्र सौन्दर्य को पोषता-निखारता हुआ, मैं (तां त्वा शिवां शग्मां परि दधे) उस तुझ शिवा और सुकर्त्री को पहन रहा हूं ।

शोधें हमें शुद्ध मातायें;
करें पवित्र हमें घृतपावन ।
दिव्यतायें ही सकल मैल को,
धोकर कर देती हैं दूर ।
शुद्ध पवित्र इन्हीं से होकर,
ऊपर उठता हूं मैं ।
है तू सुविस्तारिका व्रतधारण और तप की,
उस तुझ शिवा सुसुखकर्त्री को,
पहिन रहा हूं भद्र वर्ण से वर्णित होकर ।।

सूक्ति— विश्वं हि रिप्रं प्रवहन्ति देवीः ।।
दिव्यतायें ही सम्पूर्ण मल को बहा ले जाती हैं ।।
दीक्षातपसोस्तनूरसि ।।
तनु ! तू दीक्षा और तप की विस्तारिका है ।।

**महीनां पयोऽसि वर्चोदा असि वर्चो मे देहि ।**
**वृत्रस्यासि कनीनकश्चक्षुर्दा असि चक्षुर्मे देहि ।।**
(य० ४।३)

महीनां पयः असि वर्चःदाः असि वर्चः मे देहि ।
वृत्रस्य असि कनीनकः चक्षुःदाः असि चक्षुः मे देहि ।।

१) तू (महीनां पयः असि) महियों का दुग्धसार है ।
२) तू (वर्चःदाः असि) वर्च-दा है, (मे वर्चः देहि) मेरे लिये वर्च दे ।

३) तू (वृत्रस्य कनीनकः असि) वृत्र का कनीनक है ।
४) तू (चक्षुःदाः असि) चक्षु-दा है, (मे चक्षुः देहि) मेरे लिये चक्षु दे ।।

महा का अर्थ है बड़ा । मही का अर्थ है बड़ी । महान् या महती होने से मही नाम पृथिवी का भी है । यहां मही का प्रयोग महानता के अर्थ में हुआ है ।

पय का अर्थ है पेय, पीने के योग्य । जो पीने योग्य है, वह पय अथवा पेय है । जो पीने योग्य नहीं है, वह अपय अथवा अपेय है । दुग्ध पय है, ओषधिसार पेय है । धूम्रपान अपय है, शराब अपेय है ।

रूप, तेज और सौन्दर्य के संयोग का नाम वर्च है । आत्मस्वरूप, आत्मतेज और आत्मसौन्दर्य के समुच्चय के अर्थ में यहां वर्च शब्द का प्रयोग हुआ है ।

वृतु वर्तने । जो कुछ वर्तता है, जो कुछ वर्तमान है, उस सबका नाम वृत्र है । यह अखिल ब्रह्माण्ड और इसमें व्यापक ब्रह्म सब वृत्र है ।

कनीनक नाम आंख की पुतली का है । नेत्र में जो तिल है, वही कनीनक है । कनीनक का जो महत्त्व है, वह महत्त्व सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में अन्य किसी का नहीं है । कनीनक में जो चमत्कार है, उसके सामने अन्य सब चमत्कार सर्वथा नगण्य हैं—

देख छोटों को है भगवान् बड़ाई देता ।
विश्व सब छोटे कनीनक में दिखाई देता ।।

दिव्यताओं की प्राप्ति के साथ साथ ऊपर उठते हुये मानव ने पूर्व मन्त्र में मानव-तनू को सम्बोधन करते हुये कहा था, "मेरी तनु ! तू दीक्षा और तप की विस्तारिका है" । इस मन्त्र में वह मानव-जीवन को सम्बोधन करता हुआ कहता है,

"मेरे जीवन ! तू (महीनां पयः असि) महानताओं का दुग्धसार है" ।

सचमुच मानव-जीवन महानताओं का दुग्धसार है। वे कौनसी महानतायें हैं, जो मानवजीवन में निहित नहीं हैं और जो उसमें सम्पादित नहीं की जा सकती हैं। वे कौनसी महानतायें हैं, जिनका मानवजीवन से दोहन नहीं किया जा सकता है। महान् से महान् समस्त महानतायें मानवजीवन में अन्तर्निहित हैं, मानवजीवन में ही सम्पादित की जाती हैं और मानवजीवन से ही दुही जाती हैं।

"मेरे जीवन ! तू (वर्चःदाः असि, मे वर्चः देहि) वर्चोदा है, मुझे वर्च दे" ।

मानव-जीवन वर्च का धाम है। अखिल सुरूपता, सम्पूर्ण तेज और सारा सौन्दर्य मानव-जीवन में ही सम्पादित किया जा सकता है। न केवल शारीरिक अपि तु आत्मिक सुरूपता, तेज और सौन्दर्य का प्रदाता भी यह मानव-जीवन ही है।

"मेरे जीवन ! तू (वृत्रस्य कनीनकः असि) तू ब्रह्म का और ब्रह्म के अखिल ब्रह्माण्ड का कनीनक है।

कनीनक में ही ईक्षण अथवा दर्शनशक्ति निहित है। कनीनक के बिना चक्षु देख नहीं पाता है। वैसे ही मानव-जीवन ही वह कनीनक है, जिसके द्वारा और जिसमें स्थित समाहित होकर आत्मा ब्रह्म का दर्शन तथा ब्रह्माण्ड के प्रत्येक तत्त्व का साक्षात्कार करता है।

"मेरे जीवन ! तू (चक्षुःदाः असि, मे चक्षुः देहि) चक्षुदा है, मुझे चक्षु दे।

चक्षि व्यक्तायां वाचि दर्शने च। चक्ष् धातु का अर्थ है स्पष्ट बोलना और दर्शन करना। चक्षु शब्द चक्ष् धातु के परिवार का है। चक्षु का अर्थ है दर्शन और वदन का साधन। दर्शन और वदन का पारस्परिक सम्बन्ध है। जब सत्य या तत्त्व का साक्षात् दर्शन होता है, तब ही सत्य या तत्त्व का वदन अथवा सुस्पष्ट वर्णन होता है। मानव-जीवन चक्षुदा है। मानव-जीवन में ही सत्य का दर्शन और तत्त्व का प्रवदन [प्रवचन] किया जाता है। और सत्य का दर्शन और तत्त्व का प्रवदन ही प्रमुख साधन हैं पृथिवी के दिव्यीकरण की सुसाधना के।

पृथिवी के दिव्यीकरण की सुसाधना का साधक अपने जीवन को नित्य सम्बोधन करता है—"मेरे जीवन ! तू महानताओं का दुग्धसार है। तू वर्चप्राप्ति का अमोघ साधन है। मुझे वर्च की प्राप्ति कराता रह। तू अखिल विश्व का कनीनक है, वह कनीनक, जिससे चक्षु [चक्षणशक्ति] की सम्प्राप्ति होती है। मुझे चक्षु [चक्षणशक्ति, दर्शन और वदन की क्षमता] देता रह, ताकि मैं पृथिवी का दिव्यीकरण करता रहूं"।

स्वजीवनसम्बोधन से ही महानताओं की प्राप्ति होती है। महानताओं की प्राप्ति से वर्च और चक्षणशक्ति की सम्प्राप्ति होती है। वर्च और चक्षणशक्ति से पृथिवी का दिव्यीकरण होता है। मानव-जीवन का यही दिव्य-याग है।

दुग्धसार है तू महानताओं का, जीवन !
है तू वर्चोदा प्रदान कर वर्च मुझे तू।
अखिल विश्व का तू ही कनीनक है, रे जीवन !
है तू चक्षुर्दा प्रदान कर चक्षु मुझे तू ॥

सूक्ति—महीनां पयोऽसि ॥

मानवजीवन ! तू महानताओं का दुग्धसार है ॥
वर्चोदा असि वर्चो मे देहि ॥
तू वर्चप्रदाता है, मुझे वर्च प्रदान कर ॥
वृत्रस्य असि कनीनकः ॥
तू अखिल विश्व [की आंख] का तिल है ॥
चक्षुर्दा असि चक्षुर्मे देहि ॥
तू चक्षुदाता है, मुझे चक्षु दे ॥

**चित्पतिर्मा पुनातु वाक्पतिर्मा पुनातु देवो मा सविता**
**पुनात्वच्छिद्रेण पवित्रेण सूर्यस्य रश्मिभिः ।**
**तस्य ते पवित्रपते पवित्रपूतस्य यत्कामः पुने तच्छकेयम् ।।**

(य ४।४)

**चित्-पतिः मा पुनातु वाक्-पतिः मा पुनातु देवः मा**
**सविता पुनातु अच्छिद्रेण पवित्रेण सूर्यस्य रश्मिभिः ।**
**तस्य ते पवित्र-पते पवित्र-पूतस्य यत्-कामः पुने तत् शकेयम् ।।**

१) (चित्-पतिः मा पुनातु) चित्पति मुझे पवित्र करे, (वाक्-पतिः मा पुनातु) वाक्पति मुझे पवित्र करे ।

२) (अच्छिद्रेण पवित्रेण) अच्छिद्र पवित्र से तथा (सूर्यस्य रश्मिभिः) सूर्य की रश्मियों से (देवः सविता मा पुनातु) देव सविता मुझे पवित्र करे ।

३) (पवित्र-पते) ! (तस्य ते पवित्र-पूतस्य) उस तुझ पवित्र-पूत का (यत्-कामः) यत्काम मैं (पुने) पवित्र होता हूं, मैं (तत् शकेयं) वह सकूं ।।

आत्मा चित् है। चित्स्वरूप आत्मा की आत्मचेतना के प्रचेतित होने पर ही मानव-जीवन में पवित्रता का आधान होता है।

आत्मा वाक्-पति है। मानव-पिंजड़े में जो तोता बोल रहा है, वह यह आत्मा ही है। चित्स्वरूप आत्मा की प्रचेतना के प्रचेतित होने पर आत्मा से जिस परा वाणी के स्रोत प्रस्फुटित होते हैं, वे मानव-जीवन का और मानव-समाज का पूतीकरण करनेवाले होते हैं।

मन्त्र में चित्पति शब्द का प्रयोग आत्मप्रचेतना से प्रचेतित उस आत्मज्ञानी तत्त्वदर्शी प्रचेता के लिये हुआ है, जो अपनी आत्मप्रचेतना से जन-जन की आत्मप्रचेतना को जगाकर उनके जीवनों में पावमानी पवित्रता का सुप्रवाह प्रवाहित करता है। वाक्पति शब्द का प्रयोग हुआ हैं यहां उस सुपावन उपदेष्टा के लिये, आत्मसाधना द्वारा जिसकी अन्तःग्रन्थियों के खुल जाने पर जिसकी आत्मा से परा वाणी प्रसरित होती है।

कोई यह न समझे कि मानव का जीवन स्वयमेव ही महानताओं का दुग्धसार बन जाता है, या स्वभाव से ही वर्चोदा होता है या अनायास ही अखिल विश्व का कनीनक [आंख का तारा] बनकर चक्षणशक्ति प्रदान करता है। मानव-जीवन में इन गुणों की प्रस्थापना साधना की अपेक्षा रखती है। मानव-जीवन इन विभूतियों से विभूषित तब ही होता है, जब चित्पति, वाक्पति और देव सविता उसे शुद्ध पवित्र करते हैं। इसी लिये मानव-जीवन बोल उठता है–(चित्पतिः मा पुनातु) प्रचेता मुझे पवित्र करे, (वाक्पतिः मा पुनातु) प्रवक्ता मुझे पवित्र करे।

मानव-जीवन महानताओं का दुग्धसार, वर्चोदा तथा कनीनक तब बनता है, जब रचयिता, प्रेरक और प्रकाशक देव सविता उसे ज्ञानरूपी सूर्य की रश्मियों से सुरश्मित करके छिद्ररहित पवित्रता से पवित्र कर देता है। इसी भाव से मानव-जीवन पुनः बोल उठता है—(देवः) दिव्य, दिव्यताओं का पुञ्ज (सविता) रचयिता, प्रेरक और प्रकाशक प्रभु

(मा पुनातु) मुझे पवित्र करे और पवित्र रखे (अच्छिद्रेण पवित्रेण) छिद्ररहित साधनारूपी छाननी के द्वारा तथा (सूर्यस्य रश्मिभिः) ज्ञानरूपी सूर्य की किरणों के द्वारा।

पवित्र नाम पवित्र पदार्थ का है, पवित्रता का है, पवित्र अन्तःकरण का है। पवित्र नाम छानने की चलनी, छालनी वा छाननी का है। जिस छाननी में छनकर घृत, दुग्ध, आटा, आदि पदार्थ पवित्र होते हैं, वह सछिद्र होती है। जिस छाननी से मानव-जीवन छनकर पवित्र होता है, वह वह छिद्ररहित छाननी है, जिसे साधना कहते हैं। साधनारूपी छिद्ररहित छाननी में छनकर ही मानव जीवन पवित्र होता है।

सूर्य की किरणें जहां अपने प्रकाश से भौतिक पदार्थों को प्रकाशित करती हैं, वहां वे अपने ताप से उन्हें पवित्र भी करती हैं। सूर्य की किरणें प्रकाशक भी हैं और पावक भी। सूर्य की किरणें भौतिक शरीर को ही पवित्र कर सकती हैं और भौतिक नेत्रों के प्रकाश को ही प्रकाशित करती हैं। वह तो ज्ञानरूपी सूर्य की विज्ञानमयी रश्मियां ही हैं, जो मानव के अन्तःजीवन का प्रकाशन और शोधन करती हैं।

स्वात्म स्वाभाविक पवित्रता से पूत सुपूत, शुद्ध संशुद्ध होने से परमात्मा पवित्रपूत है।

यत् का अर्थ है जो। कामः का अर्थ है कामना करनेवाला। जब जो कामना हो, तब उसी कामना की सुपूर्ति के लिये परमात्मा से याचना करनेवाले याचक का नाम यत्कामः है।

छिद्ररहित साधना भी तभी फलवती होती है, जब पवित्रता का परिपालक परमात्मदेव पवित्रताकामी की कामना को स्वीकार कर लेता है। इसी भावना से जीवन-साधक याचना कर रहा है— (पवित्र-पते) पवित्रता के प्रतिपालक प्रभो! मैं (तस्य ते पवित्र-पूतस्य) उस तुझ पवित्र-पूत का (यत्-कामः) याचक हूं। मैं तुझसे याचना करता हूं कि मैं सदा सर्वदा (पुने) पवित्र रहूं। मैं (तत् शकेयं) वह सकूं, वैसा कर सकूं, मैं सदा पवित्र रह सकूं। यही मेरी कामना है, यही मेरी याचना है।

करे पवित्र चित्पति मुझको,
करे पवित्र वाक्पति मुझको,
छिद्ररहित छननी से सन्तत,
और सूर्य की किरणों से।
हे पवित्र-पते याचक हूं,
मैं उस तुझ पवित्र-पूत का,
रहूं पवित्र सतत सन्तत मैं,
मैं पवित्र रह सकूं निरन्तर॥

**आ वो देवास ईमहे वामं प्रयत्यध्वरे।**
**आ वो देवास आशिषो यज्ञियासो हवामहे॥**

(य० ४।५)

आ वः देवासः ईमहे वामं प्रयति अध्वरे।
आ वः देवासः आशिषः यज्ञियासः हवामहे॥

१) (देवासः) देवो! दिव्य जनो! हम (अध्वरे प्रयति) अध्वर प्रयत्न में (वः वामं) तुम्हारे वाम को (आ ईमहे) याचते हैं।

२) (यज्ञियासः देवासः) यज्ञीय देवो! हम (वः आशिषः) तुम्हारी शुभ कामनायें (आ हवामहे) प्रार्थते हैं॥

चित्पतियों [प्रचेताओं] तथा वाक्यपतियों [प्रवक्ताओं] के लिये यहां देवासः शब्द का प्रयोग हुआ है। यज्ञियासः शब्द देवासः का विशेषण है। पूजनीय, संगकरणीय तथा दानीय-समर्पणीय देवों को यज्ञियासः देवासः कहते हैं। पूजार्ह, सत्संगार्ह और समर्पणार्ह देवों का नाम यज्ञीय देव है। पूजनीयों के सत्संग और पूजनीयों के प्रति समर्पित होने से सर्वजनों में दिव्यजनीयता आती है और पृथिवी का दिव्यीकरण होता है।

वाम का अर्थ सामान्यतः सुन्दर और प्रशंसनीय किया जाता है। जो वस्तु सुन्दर होती है, उसकी प्रशंसा की जाती है। जो प्रशस्त और प्रशंसनीय है, वही सुन्दर है। सुन्दर और प्रशस्त पत्नी पति के जिस अंग [पार्श्व] में विराजती है, उसका नाम वाम अंग होगया है। सौन्दर्य दो प्रकार का है—आन्तरिक और बाह्य। अन्तःसौन्दर्य का नाम है वाम और बाह्य सौन्दर्य का नाम है सुरूपता अथवा सुन्दरता। वाम का मूलार्थ है अन्तःरूप, अन्तःसौन्दर्य। शरीरसौन्दर्य भौतिक है और बाह्य है। आत्मसौन्दर्य वाम है, अभौतिक और आन्तरिक है।

ध्वर का अर्थ है कुटिल, तिरछा, हिंसामय। अध्वर का अर्थ है अकुटिल, सरल, अहिंसामय। ध्वर आसुरी सम्पत्ति है। अध्वर दैवी सम्पत्ति है। ध्वर से असुरता का विस्तार होता है, अध्वर से दिव्यता का।

देवयजन के यागियों में, पृथिवी के दिव्यीकरण के संसिद्ध साधकों में, कहीं अहंकार का अंकुर प्रस्फुटित न होजाये, एतदर्थ उन्हें यज्ञीय देवों का आशीर्वाद प्राप्त करते रहना चाहिये। जो अहंकारी होते हैं, वे अपने को ही सब कुछ समझते हैं और देवजनों का आदर सत्कार नहीं करते हैं। परिणामस्वरूप वे देवजनों के मार्गदर्शनयुक्त आशीर्वादों से वंचित रहते हैं और साधनापथ पर ठोकरें खाते हैं। जो संसिद्ध देवयाजक देवजनों के पथप्रदर्शनमय आशीर्वाद प्राप्त करते रहते हैं, वे सफलकाम होते हैं। सच्चे देवयाजक देवजनों का सम्मान करते हुये उनसे सदा विनय करते रहते हैं—

(देवासः) देवो! हम देवयजन के इस (अध्वरे प्रयति) अकुटिल प्रयास में, निष्पाप प्रसाधना में (वः वामं आ ईमहे) तुम्हारे अन्तःसौन्दर्य को याचते हैं। हम निवेदन करते हैं कि तुम हमें आत्म-सौन्दर्य से सदा युक्त रखो, क्योंकि देवयजन अन्तःशोध का विषय है, बाह्य आडम्बर का नहीं।

(यज्ञियासः देवासः) यज्ञीय देवो! देवयजन की इस निर्मल साधना में हम (वः आशिषः आ हुवामहे) तुम्हारी आशीषें प्रार्थते हैं। हम प्रार्थना करते हैं कि तुम हमें अपनी आत्मिक शुभकामनायें सदा प्रदान करते रहो, क्योंकि देवयजन में देवजनों का पथप्रदर्शक आशीर्वाद सफलता प्राप्त कराता है।

देवो, इस निश्छल प्रयास में,
याचते हैं, हम वाम तुम्हारा।
प्रार्थते हैं, यज्ञीय देवो,
हम शुभ आशीषें तुम्हारी॥

स्वाहा यज्ञं मनसः स्वाहोरोरन्तरिक्षात्स्वाहा ।
द्यावापृथिवीभ्यां स्वाहा वातादारभे स्वाहा ॥
(य० ४।६)

स्वाहा यज्ञं मनसः स्वाहा उरोः अंतरिक्षात्
स्वाहा द्यावापृथिवीभ्यां स्वाहा वातात् आ-रभे स्वाहा ॥

मैं (यज्ञं आ-रभे) यज्ञ आरम्भ करता हूं (स्वाहा) स्वाहुति द्वारा, (मनसः स्वाहा) मन से स्वाहुति द्वारा, (उरोः अन्तरिक्षात् स्वाहा) विशाल अन्तरिक्ष से स्वाहुति द्वारा, (द्यावापृथिवीभ्यां स्वाहा) द्यौ और पृथिवी से स्वाहुति द्वारा (वातात् स्वाहा) वात से स्वाहुति द्वारा।

स्वाहा नाम है स्व-आहुति अथवा आत्म-आहुति का। स्वाहा नाम है सु-आहुति का। स्व-आहुति ही सु-आहुति है। स्व-आहुति से बढ़कर अन्य कोई आहुति नहीं है। यज्ञ का प्रयोग हुआ है यहां देवयजन अथवा दिव्यीकरण की साधना के लिये।

केवल वाम और आशीर्वाद की प्राप्ति से ही पृथिवी के दिव्यीकरण का सुपावन यज्ञ सम्पन्न नहीं होजायेगा। यज्ञ का मूलमन्त्र तो स्वाहा है, स्व-आहुति है, स्व सर्वस्व की आहुति है। स्वाहा=स्व+आ+हा=स्व का+पूर्ण+त्याग [आहुति]।

अग्नियाग भी तो स्वाहा के द्वारा ही सम्पन्न होता है। स्व स्व पदार्थ की पूर्ण आहुति देने से ही अग्नियज्ञ होता है। स्वाहा कहते ही यज्ञ करनेवाले यज्ञाग्नि में अपने अपने पवित्र पदार्थ की पूर्ण आहुति देते हैं, अपनी अपनी पावन हवि और अपना अपना पुनीत घृत होमते हैं। तभी यज्ञ होता है और यज्ञ की सुगन्धि सब ओर व्यापती है। स्वाहा ही यज्ञ का आत्मा है।

इसी भावना से भावित होकर देवयजन के याजकों में से प्रत्येक याजक कह रहा है—

१) मैं (यज्ञं) पृथिवी के दिव्यीकरण के यज्ञ को (आ-रभे) आरम्भ कर रहा हूं, (स्वाहा) स्व-आहुति द्वारा।

देवयजन प्रारम्भ करने से पूर्व दिव्य याजक को स्व-आहुति और आत्म-बलिदान के लिये समुद्यत होना चाहिये। देवयजन का प्रारम्भ साथियों और साधनों के आश्रय से नहीं, आत्माश्रय से किया जाता है। स्व-आहुति देकर देवयजन प्रारम्भ करने के अनन्तर कालान्तर में असंख्य साथी और अनन्त साधन स्वयमेव चलते चले आयेंगे। प्रारम्भ तो स्वाहा से, पुनीत स्वाहुति से, स्व की सुपावन आहुति से ही करना होगा।

२) मैं (यज्ञं आ-रभे) देवयजन आरम्भ करता हूं, (मनसः स्वाहा) मन से स्वाहुति की भावना द्वारा।

देवयजन के लिये देवयाजक अपने मन से स्वाहुति की भावना को दृढ़ करता है। मन संकल्प का केन्द्र है। संकल्प की दृढ़ता ही है, जो हंसते हंसते स्व सर्वस्व की आहुति देकर मनुष्य जान की बाज़ी लड़ा देता है। मन ही आहुति और अनाहुति का कारण है। मन का संकल्प सत्य, शिव और अडिग होता है तो महान् से महान् बलिदान और साधना भी सरल प्रतीत होती है।

३) मैं (यज्ञं आ-रभे) देवयजन आरम्भ करता हूं, (उरोः अन्तरिक्षात् स्वाहा) विशाल अन्तरिक्ष से स्वाहुति की भावना प्राप्त करके।

देवयाजक अन्तरिक्ष [आकाश] की ओर दृष्टि डालता है और देखता है कि विशाल अन्तरिक्ष सर्वार्थ सुहुत होकर देवयजन कर रहा है। अन्तरिक्ष जहां एक ओर सर्वार्थ स्व सर्वस्व की आहुति दे रहा है, वहां दूसरी ओर वह कितना विशालाशय है कि समष्टि सृष्टि को, अखिल ब्रह्माण्ड को, अपने अन्तःकरण में समाये हुये है। देवयाजक को भी अन्तरिक्ष के समान न केवल स्व सर्वस्व को सुहुत करना होगा, अपि तु विशालाशय बनकर सम्पूर्ण पृथिवी को और पृथिवीवासियों को अपने हृदय में समाना होगा। देवयाजक के प्रति कोई कैसा भी भला बुरा बर्ताव करे, याजक तो सभी को हृदय से अपनायेगा।

४) मैं (यज्ञं आ-रभे) देवयजन आरम्भ कर रहा हूं, (द्यावापृथिवीभ्यां स्वाहा) द्यौ और पृथिवी से स्वाहुति की भावना लेकर।

देवयाजक द्यौलोक और पृथिवीलोक की ओर दृष्टि डालता है और देखता है कि वे दोनों लोक भी सर्वार्थ स्व सर्वस्व की आहुति देकर दिव्य याग कर रहे हैं। द्यौ के द्योतन और पृथिवी के भोजन प्राणीमात्र के लिये सुहुत होरहे हैं। द्यौ विश्व को प्रकाश प्रदान कररहा है तो पृथिवी सबका धारण पोषण कररही है। पृथिवी के दिव्यीकरण के लिये देवयाजक को द्यौ के समान सबका द्योतन तथा पृथिवी के समान सबका सहन और संवहन करना होगा।

५) मैं (यज्ञं आ-रभे) देवयजन आरम्भ करता हूं, (वातात् स्वाहा) वात से स्वाहुति की प्रेरणा लेकर।

वात नाम बादलों का वहन करनेवाले पवन [Monsoon] का है। देवयाजक वात की ओर दृष्टि घुमाता है और देखता है कि वात सागर से बादलों को लेजाकर दूर दूर वृष्टियों के रूप में स्वाहुतियां देरहा है और देशप्रदेशों को हरा भरा कर रहा है। पृथिवी के दिव्यीकरण के लिये साधक को ज्ञान विज्ञान, विद्या विवेक, स्वास्थ्य सौन्दर्य, आचार विचार, योग सुयोग आदि दिव्यताओं की सर्वत्र सुवृष्टि करनी होगी॥

करता हूं आरम्भ यज्ञ मैं,
स्व-आहुति सु-आहुति द्वारा,
मन से स्वाहुति और सु-आहुति,
स्व-आहुति महदन्तरिक्ष से.
द्यौ और पृथिवी से स्वाहुति,
स्वाहुति वृष्टिवह वायु से॥

आकूत्यै प्रयुजेऽग्नये स्वाहा मेधायै मनसेऽग्नये स्वाहा
दीक्षायै तपसेऽग्नये स्वाहा सरस्वत्यै पूष्णेऽग्नये स्वाहा।
आपो देवीर्बृहतीर्विश्वशम्भुवो द्यावापृथिवी उरो अन्तरिक्ष।
बृहस्पतये हविषा विधेम स्वाहा॥ (य० ४।७)

आ-कूत्यै प्र-युजे अग्नये स्वाहा, मेधायै मनसे अग्नये स्वाहा,
दीक्षायै तपसे अग्नये स्वाहा, सरस्वत्यै पूष्णे अग्नये स्वाहा।
आपः देवीः बृहतीः विश्व-शंभुवः द्यावापृथिवी उरो अन्तरिक्ष।
बृहस्पतये हविषा विधेम स्वाहा॥

१) (आ-कूत्यै) आकूत्यर्थ (प्र-युजे अग्नये स्वाहा) प्र-युक्त अग्नि के लिये स्वाहुति।

२) (मेधायै) मेधार्थ (मनसे अग्नये स्वाहा) मनः अग्नि के लिये स्वाहुति।

३) (दीक्षायै) दीक्षार्थ (तपसे अग्नये स्वाहा) तपः अग्नि के लिये स्वाहुति।

४) (सरस्वत्यै) सरस्वत्यर्थं (पूष्णे अग्नये स्वाहा) पूषा अग्नि के लिये स्वाहुति।

५) (देवीः बृहतीः विश्व-शंभुवः आपः द्यावापृथिवी) दिव्य बृहती सर्व-सुखयित्री जलधारायें तथा द्यौ और पृथिवी, (उरो अन्तरिक्ष) विशाल अन्तरिक्ष।

६) हम (हविषा) हवि द्वारा (बृहस्पतये) बृहस्पति के लिये (स्वाहा) स्वाहुत होकर (वि-धेम) वि-आधान करें।

सामान्यतः आकूति का अर्थ संकल्प किया जाता है। परन्तु आकूति और संकल्प में बहुत भेद है। आकूति आत्मा का विषय है, संकल्प मन का। कु शब्दे धातु से कूति शब्द बनता है। आ= आत्मा। कूति आवाज। आकूति का अर्थ है आत्मा में सुनायी देनेवाली ब्रह्मप्रेरित ज्ञानमय कूति। इसी का नाम है अन्तःश्रुति। अन्तःश्रुति के द्वारा ही श्रुति का श्रवण किया जाता है।

मेधा नाम परा बुद्धि का है। मेधा नाम ज्ञान के उस अक्षय कोश का है, जो उपमस्तिष्क में संचित रहता है और जिसे योगी जन साधना द्वारा सुविकसित करते हैं। मेधा के सुविकसित होजाने पर ज्ञान विज्ञान के स्रोत सुप्रवाहित होते हैं, ज्योतिष्कोश सुरश्मित रहते हैं, प्रकाशकोश प्रखरित रहते हैं, विराट् का संदर्शन होता है और बुद्धि दिव्यता से आप्लावित रहती है।

व्रतेन दीक्षामाप्नोति। मनुष्य व्रत से दीक्षा को प्राप्त करता है, व्रत धारण करके दीक्षित होता है। व्रतों के धारण और निर्वहन का नाम दीक्षा है।

सरस्वती वाङ्नाम। वाग्वै सरस्वती। सरस्वती नाम वाणी का है। प्रत्येक वाणी नहीं, केवल वह वाणी ही सरस्वती है, जिससे सरसता के साथ ज्ञान विज्ञान का प्रकाशन होता है। सरस्वती=सरस्+वती=सरसतामयी, सरसता के साथ सुप्रवाहित होकर सदाशय और सत्याशय प्रकट करनेवाली वाणी। ज्ञान ही पूषा है। ज्ञान ही है, जो वाणी को पुष्ट करता है। ज्ञान ही है, जो वाणी द्वारा प्रवाहित होता है।

बृहस्पतिः=बृहत्+पतिः। ब्रह्म वै बृहस्पतिः। ब्रह्म ही बृहस्पति है, महान् स्वामी है।

देवयजन का आरम्भ मन से स्वाहुति की भावना द्वारा किया जाता है, किन्तु अन्त तक उसकी सतत साधना के लिये आकूति, मेधा, दीक्षा और सरस्वती की अनिवार्य अपेक्षा रहती है। इस साधन-चतुष्टय से सदा सुसज्ज रहने के लिये देवयाजक चार विभिन्न अग्नियों में तपते हैं—

१) (आकूत्यै) अन्तःश्रुत्यर्थ वे (प्र-युजे अग्नये स्वाहा) प्र-युक्त अग्नि के लिये सुहुत रहते हैं।

अन्तःश्रुति से सुसम्पन्न रहने के लिये देवयाजक प्रयुक्त अग्नि के प्रति सुहुत रहते हैं। योग ही वह अग्नि है, जिससे सदा सर्वदा सुयुक्त रहने से अन्तःश्रुति की सम्प्राप्ति होती है।

२) (मेधायै) मेधार्थ वे (मनसे अग्नये स्वाहा) मनः अग्नि के लिये सुहुत रहते हैं।

मेधा के सुसम्पादन के लिये देवयाजक मनरूपी अग्नि के प्रति सुहुत होते हैं। मेधा और मन का

परस्पर अटूट सम्बन्ध है। मनरूपी अग्नि के प्रज्वलित और प्रकाशित रहने से मेधा के समस्त केन्द्र, कोश और प्रवाह सुविकसित और सुप्रवाहित रहते हैं।

३) (दीक्षायै) व्रतों के धारणार्थ तथा निर्वहनार्थ वे (तपसे अग्नये स्वाहा) तपः अग्नि के लिये सुहुत रहते हैं।

व्रतों के धारण और निर्वहन के लिये देवयाजक तपरूपी अग्नि के प्रति सुहुत रहते हैं। धारित व्रतों के निर्वहन के लिये तप की आवश्यकता प्रत्यक्ष है। विना तप के व्रतों की साधना की ही नहीं जा सकती।

४) (सरस्वत्यै) वाणीप्रवाहार्थ वे (पूष्णे अग्नये स्वाहा) ज्ञान अग्नि के लिये सुहुत रहते हैं।

वाणी पर सरस्वती की स्थापना के लिये देवयाजक ज्ञानरूपी अग्नि के प्रति सुहुत रहते हैं।

सम्पूर्ण पृथिवी का दिव्यीकरण बड़ा कठिन और कठोर कार्य है। इसीसे तो उसके लिये देवयाजकों ने योगाग्नि में तपकर अन्तःश्रुति की, मनाग्नि में तपकर मेधा की, तपाग्नि में तपकर दीक्षा की और ज्ञानाग्नि में तपकर सरस्वती की संसाधना की है। फिर भी देवयाजक अनुभव कररहे हैं कि इस कठिन और कठोर साधना के लिये उन्हें ब्रह्मबल अथवा ब्राह्मशक्ति से भी नियुक्त रहना होगा। ब्रह्मबल से नियुक्त रहना तब ही सम्भव होगा, जब देवयाजक अपने को ब्रह्म में सुहुत और आधानित रखेंगे। लोहे की यदि इच्छा है कि वह सदा सर्वदा आग्नेय ताप से युक्त रहे तो उसे अग्नि में सुहुत होकर अग्नि में ही आधानित अथवा प्रस्थापित रहना होगा। इसी भावना से वे कह रहे हैं—देवयजनार्थ अन्तःश्रुति, मेधा, दीक्षा और सरस्वती से युक्त होकर हम (बृहस्पतये) ब्रह्म के प्रति (हविषा) हवि द्वारा, हवि की भावना से, हविवत्, पवित्र हवनसामग्री की तरह (स्वाहा) सुहुत होकर, ब्रह्म में ही (वि-धेम) वि-धारित/आधानित/प्रस्थापित रहें। किस प्रकार? जिस प्रकार (देवीः) दिव्य (बृहतीः) महती (विश्व-शंभुवः) सबके लिये सुख सम्पादन करनेवाली (आपः द्यावापृथिवी) जलधारायें तथा द्यौ व पृथिवी और (उरो अन्तरिक्ष) विशाल अन्तरिक्ष, सर्वहितार्थ समर्पित होकर सर्वहित में स्थित हैं।

अन्तःश्रुति के लिये, तपे हम योग अग्नि में।
और मेधा के लिये, तपे हम मनः अग्नि में।
व्रत-पालन के लिये, तपे हम तपः अग्नि में।
सरस्वती के लिये, तपे हम ज्ञान अग्नि में।
बृहस्पति के प्रति, रहें हम सतत प्रधारित;
होकर स्वाहुत सुहुत हविवत्॥
जैसे दिव्य बृहती सुखयित्री,
जलधारायें द्यौ और पृथिवी,
अन्तरिक्ष सुविशाल॥

विश्वो देवस्य नेतुर्मर्तो वुरीत सख्यम्।
विश्वो राय इषुध्यति द्युम्नं वृणीत पुष्यसे स्वाहा॥
[ऋ० ५. ५०. १, य० ११/६७, २२/२१] (य० ४/८)

विश्वः देवस्य नेतुः मर्तः वुरीत सख्यम्।
विश्वः राये इषुध्यति द्युम्नं वृणीत पुष्यसे स्वाहा॥

१) (विश्वः मर्तः) सब मनुष्य (नेतुः देवस्य) नेतृ देव की (सख्यं) सख्यता को (वुरीत) वरण करे।

२) (विश्वः) सब कोई (राये) रै के लिये (इषुध्यति) वाण धारण कर रहा है।

३) मनुष्य (द्युम्नं वृणीत) द्युम्न वरण करे।
४) तू (स्वाहा) स्वाहुति द्वारा (पुष्यसे) पुष्ट होवे। [पुष्यसे क्रिया लेट्लकार का रूप है, जिसका प्रयोग केवल वेद में होता है]।

बृहस्पति को इस मन्त्र में नेतृ देव कथित किया गया है। अखिल ब्रह्माण्ड का नयन या संचालन करनेवाला होने से बृहस्पति नेतृ देव है।

रै और द्युम्न दोनों का प्रयोग धन के अर्थ में होता है। रै में संघर्ष का भाव है। जिस धनैश्वर्य के लिये इतना संघर्ष करना पड़े कि मन खिन्न रहे, उसे रै कहते हैं। द्यु+मन=द्युम्न। जो धन मन की द्युति अथवा प्रसन्नता के साथ प्राप्त होता है, उसे द्युम्न कहते हैं।

अन्तःश्रुति, मेधा, दीक्षा तथा सरस्वती से युक्त होकर और बृहस्पति में प्रस्थापित होकर पृथिवी के दिव्यीकरण के दिव्य याजक अपने दिव्य उपदेशों द्वारा जन जन को चेतायें। मानवमण्डल को उपदेश करने का अधिकार उन्हीं को होता है और जनों में आत्मप्रचेतना संचार करने की क्षमता उन्हीं देवयाजकों में होती है, जो आकूति मेधा दीक्षा और सरस्वती से सुसम्पन्न और आत्मना प्रभु में संस्थित होते हैं।

देवयाजक जन-जन को उपदेश करें—
१) (विश्वः मर्तः) सब मनुष्य, सब कोई मनुष्य, प्रत्येक मनुष्य (राये) खिन्न धन के लिये (इषुध्यति) तीर चला रहा है।
२) (विश्वः मर्तः) प्रत्येक मनुष्य को चाहिये कि वह (द्युम्नं वृणीत) प्रसन्न धन कमाये।
३) (विश्वः मर्तः) प्रत्येक मनुष्य को चाहिये कि वह (नेतुः देवस्य) नेतृ देव की (सख्यं वुरीत) सख्यता सम्पादन करे।
४) मानव! तुझे चाहिये कि (स्वाहा) स्वाहुतिपूर्ण आचरण से तू अपने जीवन को (पुष्यसे) पुष्ट करे।

जिस मनुष्य को देखिये, धन के लिये तीर ताने हुये फिर रहा है। जैसे शिकारी तीर कमान धारण करके रात दिन शिकार की तलाश में फिरता है और प्राणियों का वध करता है, वैसे ही मनुष्य धर्म अधर्म, पाप पुण्य, उचित अनुचित, हिंसा अहिंसा का विचार न करता हुआ धन के लिए अहर्निश मारा मारा फिरता है। परिणाम-स्वरूप वह स्वयं खिन्न रहता है और अन्यों को पीड़ा पहुंचाता है।

इस आसुरी अवस्था से त्राण दिलाने के लिये देवयाजक जन-जन को समझायें और सिखायें कि प्रत्येक मनुष्य वैसा और वैसी विधि से धन कमाये कि स्वयं भी प्रसन्न रहे और दूसरे भी प्रसन्न हों।

देवयाजक मानव प्रजा को यह भी सिखायें समझायें कि मनुष्य को भौतिक धन की प्राप्ति के साथ साथ आत्मिक धन की प्राप्ति भी करनी चाहिये, क्योंकि भौतिक धन यहां के यहीं रह जाते हैं। आत्मिक धन और आध्यात्मिक सम्पदायें ही हैं, जो साथ जाती हैं। भौतिक धन शरीर की सुख सुविधा के लिये होते हैं। आत्मिक धन आत्मा का कल्याण करते हैं और आत्मा को आनन्द की प्राप्ति कराते हैं। आत्मिक धन अथवा आध्यात्मिक सम्पदायें आत्मसाधना और परमात्मा की स्तुति, प्रार्थना, उपासना से उपलब्ध होती हैं। देवयाजक अपनी दिव्य वाणियों से जन-जन के अन्तःकरण में अन्तःप्रेरणा करें कि प्रत्येक मनुष्य प्रभु की सख्यता सम्पादन करे, आत्मना प्रभु से आत्मसम्बन्ध स्थापन करे।

देवयाजकों की इन और ऐसी शिक्षाओं के सुप्रभाव से प्रत्येक मानव स्वाहुतिपूर्ण आचरण करके अपने जीवन को पुष्ट करे। इस प्रकार जन-जन का दिव्यीकरण होता चला जाये। स्वार्थपूर्ण आचरण से नहीं, स्वाहुतिपूर्ण आचरण से जीवन पुष्ट और पुष्पित होता है।

सब कोई मनुष्य फिरता है,
धारणा किये वाण रहेतु,
उचित यही नर द्युम्न कमाये।
नेतृ देव की सुखद सख्यता,
मनुज करे निश्चय सम्पादन।
स्वाहुतिपूर्ण आचरण द्वारा।
करे पुष्ट तू निज जीवन को॥
सूक्ति—देवस्य नेतुर्मर्तोवुरीत सख्यम्।
मनुष्य नेतृ देव की सख्यता सम्पादन करे॥

ऋक्सामयोः शिल्पे स्थस्ते वामारभे ते मा पातमास्य यज्ञस्योद्दचः।
शर्मासि शर्म मे यच्छ नमस्ते अस्तु मा मा हिंसीः॥

(य० ४/९)

ऋक्सामयोः शिल्पे स्थः ते वां आ-रभे ते मा पातं आ अस्य यज्ञस्य उत्-ऋचः।
शर्म असि शर्म मे यच्छ नमः ते अस्तु मा मा हिंसीः॥

१) तुम दोनों (ऋक्-सामयोः) ऋक् और साम के (शिल्पे स्थः) शिल्प हो।
२) मैं (ते वां आ-रभे) उन तुम दोनों को आरम्भ करता हूं।
३) (ते) वे तुम दोनों (अस्य यज्ञस्य उत्-ऋचः) इस यज्ञ के उत्-ऋचन से (मा आ पातं) मुझे/मेरी सर्वतः रक्षा करो।
४) तू (शर्म असि) शर्म है, (मे शर्म यच्छ) मेरे लिये शर्म दे, (ते नमः अस्तु) तेरे लिये नमस्कार हो, (मा मा हिंसीः) मुझे मत हिंस॥

शिल्प नाम कला का है। ऋग्वेद की कला है ज्ञानमय स्तुति और सामवेद की कला है उपासनामय गीति। पूर्व मन्त्र में नेतृ देव की सख्यता के वरण का उल्लेख किया गया है। यहां उस सख्यता की प्राप्ति के उपाय का वर्णन है। स्तुति और गीति ही दो कलायें हैं, जिनके द्वारा नेतृ देव का आत्म-सख्य सम्पादन किया जाता है। स्तुति से प्रीति और गीति से आत्मलीनता की प्राप्ति होती है। प्रीति और आत्मलीनता से नेतृ देव की सख्यता संसिद्ध होती है। इसी आशय से देवयाजक कह रहा है—स्तुते और गीते! तुम दोनों (ऋक्सामयोः शिल्पे स्थः) ऋग्वेद और सामवेद की कला हो। नेतृ देव की सख्यता के सम्पादनार्थ मैं (ते वां आ-रभे) उन तुम दोनों को आरम्भ करता हूं, मैं उन तुम दोनों का अनुष्ठान प्रारम्भ करता हूं।

उत् का अर्थ है ऊंचा और ऋचन का अर्थ है ऋचना, नीचे गिरना, पतन होना। ऊपर उठकर नीचे गिरना उत्-ऋचन कहलाता है। ऊपर उठना उतना कठिन नहीं है, जितना कठिन है ऊपर उठकर उठे ही रहना और कभी पतनोन्मुख न होना। उत्थान को प्राप्त होकर सदा उत्थित रहना उसी देवयाजक के लिये सम्भव है, जो सतत सन्तत निरन्तर अनवरत नेतृ देव की संज्ञानमय सजग स्तुति और आत्मसमर्पणयुक्त उपासनामय गीति में लीन रहता हुआ देवयजन अथवा पृथिवी के दिव्यीकरण का अनुष्ठान करता रहता है। जो देवयाजक अहंकारजन्य प्रमाद से स्तुति और गीति

का आश्रय त्याग देता है, निस्सन्देह उसका पतन होजाता है। अतः आत्मशंसन करता हुआ देवयाजक सदा आत्मध्वनि करता रहे—स्तुते और गीते ! (ते) वे तुम दोनों मुझे मेरे (अस्य यज्ञस्य) इस जीवनयज्ञ के (उत्-ऋचः) उत्-ऋचन से (मा आ पातं) मेरी सर्वतः रक्षा करती रहो। तुम्हारे आश्रय से मेरे जीवनयज्ञ का यह उत्थान सदा उत्थित बना रहे। मेरा कभी पतन न होने पाये।

शर्म का अर्थ है गृह और सुख। स्वगृह ही सुख का स्थल है। तनू [शरीर] निस्सन्देह वह गृह है, जिससे और जिसमें आत्मा को सर्वतः सुख की प्राप्ति होती है। देवयाजक की जीवनी हो सुखमयी, किन्तु साथ ही वह हो नमनीय भी, ऐसी नमनीय कि जन-जन उसे सर्वत्र नमस्कार करे, समाहृत करे और वह हो ऐसी निरापद व निरामय कि उससे स्वात्मा को किसी प्रकार की हानि न होकर आत्मलाभ हो, लाभ ही लाभ हो। पतन से बचे रहने के लिये अपनी तनू को लक्ष्य करके देवयाजक सदा आत्मसम्बोधन करता रहे—मेरी तनु ! तू मेरा, मुझ आत्मा का (शर्म असि, मे शर्म यच्छ) गृह है, मुझे सुख देती रह। सर्वत्र (ते नमः अस्तु) तेरे लिये नमस्कार हो। (मा मा हिंसीः) मुझे मत हिंस, कभी कदापि मेरी हानि न कर।

स्तुते गीते ! तुम दोनों हो,
ऋक् और साम की ललित कलायें,
करता हूं आरम्भ में उन तुम दोनों ही को।
वे तुम दोनों रक्षा करती रहो,
उदृचन से मेरे इस जीवन-सुयाग की।
तू है मेरा गृह मुझे देती रहना सुख,
नमस्कार सर्वत्र सदा हो तेरे लिये,
कभी कदापि हानि न करना मेरे लिये ॥

उर्गस्याङ्गिरस्यूर्णम्रदा ऊर्जं मयि धेहि। सोमस्य नीविरसि
विष्णोः शर्मासि शर्म यजमानस्येन्द्रस्य योनिरसि सुसस्याः
कृषीस्कृधि। उच्छ्रयस्व वनस्पत ऊर्ध्वो मा पाह्यंहस
आस्य यज्ञस्योदृचः ॥ (य० ४/१०)

ऊर्क् असि आंगिरसि ऊर्ण-म्रदाः ऊर्जं मयि धेहि। सोमस्य
नीविः असि विष्णोः शर्म असि शर्म यजमानस्य इन्द्रस्य
योनिः असि सुसस्याः कृषीः कृधि। उत्-श्रयस्व वनस्पते
ऊर्ध्वः मा पाहि अंहसः आ अस्य यज्ञस्य उत्-ऋचः ॥

पूर्व मन्त्र से तनू-सम्बोधन को जारी रखते हुये देवयाजक पुनः कहता है—

१) आंगिरसि ! तू (ऊर्ण-म्रद्राः असि) ऊर्ण-म्रद्रा है।

तनू के लिये यहां आंगिरसी शब्द का प्रयोग किया गया है। अंग-अंग में, प्रत्येक अवयव में, रस अथवा सरसता होने से मानव-तनू को आंगिरसी कहते हैं।

ऊर्ण नाम ऊन अथवा रेशे का है। म्रदा का अर्थ है सुकोमल। बहुत सुकोमल होने के कारण छुईमुई का पौधा भी ऊर्णम्रदा है। यह आंगिरसी कितनी भी सुन्दर और सुदृढ़ क्यों न हो, है छुईमुई और क्षणभंगुर ही। एक झटके में श्वास का तार टूट जाता है और क्षणभर में आंगिरसी कुम्हला जाती है।

२) आंगिरसि ! तू ऊर्णम्रदा है, सही। पर तू जब तक है, तब तक तो (मयि) मुझमें (ऊर्क्) सत्त्व और (ऊर्जं) पराक्रम (धेहि) धारण-स्थापन करती रह।

जब तक जीवन है, तब तक अनवरत, अन्तिम क्षण तक, देवयाजक की तनू सत्त्व से युक्त और पराक्रम से संयुक्त रहनी चाहिये। सत्त्वहीन और पराक्रमविहीन तनू से देवयजन सम्पादन नहीं किया जा सकता।

३) आंगिरसि ! तू (सोमस्य नीविः असि) सोम की नीवि है।

आत्मा वै सोमः। चन्द्रमा वै सोमः। सोम का प्रयोग यहां आत्मा के अर्थ में हुआ है। चन्द्रमा के समान आह्लादक होने से आत्मा सोम कहाता है। नीवि का अर्थ है पूंजी और मेखला। मेखला प्रतीक है तत्परता का। पूंजी और तत्परता का घनिष्ठ सम्बन्ध है। पूंजी के बिना व्यापार व्यवसाय नहीं किया जा सकता है। आत्मा व्यापारी है और उसकी तनू है उसकी वह पूंजी, जिसके बिना आत्म-व्यापार नहीं किया जा सकता है। आत्मा जब तत्परता के साथ तनूरूपी पूंजी से व्यापार [साधना] करता है, तब ही वह लोक और परलोक के ऐश्वर्य सम्पादन करके दिव्यताओं से युक्त होता है और दिव्यीकरण कर पाता है।

४) आंगिरसि ! तू (विष्णोः शर्म असि) विष्णु का शर्म है।

विष्णु का अर्थ है सर्वव्यापक और शर्म नाम है सुख और गृह का। मानव-तनू विष्णु का गृह है, सर्वव्यापक भगवान् का मन्दिर है। तनू-मन्दिर की हृदय-गुहा में विष्णु भगवान् अपनी सम्पूर्ण दिव्यताओं के साथ विराज रहे हैं। विष्णु के इस सुखद मन्दिर में दिव्य चिन्तन, दिव्य भावनायें और दिव्य अनुष्ठान ही किये जाने चाहियें। इस मन्त्रांश से देवयाजक को यह दिव्य प्रेरणा मिल रही है।

५) आंगिरसि ! तू (यजमानस्य शर्म असि) यजमान का शर्म है, यजमान की यज्ञशाला है।

मानव-तनू आत्म-यजमान की यज्ञशाला है। आत्मा यजमान है और उसकी आंगिरसी तनू है उसकी यज्ञशाला। आत्म-यजमान की इस यज्ञशाला में यज्ञ ही किये जाने चाहियें, श्रेष्ठतम कर्म ही किये जाने चाहियें। देवयाजक इस मन्त्र-भाग से यह प्रेरणा प्राप्त कर रहा है।

६) आंगिरसि ! तू (इन्द्रस्य योनिः असि) आत्मा की योनि है।

योनियां न केवल चौरासी लाख हैं, अपि तु करोड़ों हैं, अरबों हैं, असंख्य हैं, जिनमें आत्मा आवागमन करता रहता है। उन सबमें से मानव-तनू ही आत्मा के लिये वह विशिष्ट सर्वश्रेष्ठ योनि है, जिसमें ज्ञान, कर्म और उपासना के अनुष्ठान से विष्णु का साक्षात्कार और मोक्ष की सम्प्राप्ति होती है। देवयाजक इस तथ्य को एक क्षण के लिये भी विस्मृत नहीं करता है।

७) अब देवयाजक अपने आत्मा को सम्बोधन करके कहता है—मेरे आत्मन् ! तेरा यह मानव-तनू एक क्षेत्र भी है और तू है इस क्षेत्र का कृषिवल [किसान]। इस क्षेत्र में तू (सु-सस्याः कृषीः कृधि) सु-उपजोंवाली कृषियां कर, सु-धान्योंवाली खेतियां कर। इसमें वह खेतियां कर कि तू लोक और परलोक के सुधान्यों से सम्पन्न होकर विश्व को दिव्यताओं से दिव्य और तृप्तियों से सन्तृप्त कर सके।

८) वनस्पतिः वनःपतिः । वन के पति अथवा वृक्षों के राजा का नाम वनस्पति है। वृक्षों में सुमहान् होने से वटवृक्ष को वनस्पति कहते हैं। वटवृक्ष का बीज अतिशय लघु होता है। उसी लघुतम बीज से सुविशाल वटवृक्ष इतना फैलता है कि उसकी छाया में हज़ारों प्राणी आश्रय लेते हैं। देवयाजक का जीवन भी वह वटवृक्ष बने कि उसकी छाया में और उसके आश्रय से असंख्य जनों के जीवन लाभान्वित हों। इसी दिव्य आकांक्षा का व्यक्तिकरण करता हुआ देवयाजक कह रहा है—मेरे (वनस्पते) जीवन-वटवृक्ष ! (उत्-श्रयस्व) ऊंचा उठ, आरोहण कर, ऊपर उठकर फैल, सदा उच्चस्थ रह और (ऊर्ध्वः) उच्चस्थ तू (अस्य यज्ञस्य उत्-ऋचः) इस जीवन-यज्ञ के उत्-ऋचन से तथा (अंहसः) पाप से (मा आ पाहि) मुझे सर्वतः बचा, मेरी सर्वतः रक्षा कर।

पाप से ही उद्दचन [पतन] होता है। पाप आया कि पतन हुआ। निष्पापता से उत्थित जीवन सदा उत्थित रहता है। सपापता से उत्थित जीवन पतित होजाता है।

आंगिरसि ! तू ऊर्णम्रदा है,
मुझमें सत्त्व पराक्रम धार।
आत्म-सोम की है तू नीवि,
और मन्दिर है तू विष्णु का।
यज्ञशील का यज्ञसदन तू,
और इन्द्र की है तू योनि।
सु-सस्या कृषियां कर इसमें।
वनस्पते ! उच्चस्थ सदा रह,
उत्थित तू रक्षा करता रह,
मेरे इस जीवन-सुयाग की,
उद्दचन से और पाप से ॥

व्रतं कृणुताग्निर्ब्रह्माग्निर्यज्ञो वनस्पतिर्यज्ञियः । दैवीं धियं मनामहे सुमृडीकामभिष्टये वर्चोधां यज्ञवाहसं सुतीर्था नो असद्वशे । ये देवा मनोजाता मनोयुजो दक्षक्रतवस्ते नोऽवन्तु ते नः पान्तु तेभ्यः स्वाहा ॥ (य० ४/११)

व्रतं कृणुत अग्निः ब्रह्म अग्निः यज्ञः वनस्पतिः यज्ञियः ।
दैवीं धियं मनामहे सु-मृडीकां अभिष्टये वर्चःधां यज्ञ-वाहसं सु-तीर्था नः असत् वशे ।
ये देवाः मनःजाताः मनःयुजः दक्ष–क्रतवः ते नः अवन्तु ते नः पान्तु तेभ्यः स्वाहा ॥

एक-एक देवयाजक ने अपने तनू को सत्त्व और पराक्रम से युक्त कर लिया है, उसे परम पावन विष्णु भगवान् का पावन मन्दिर बना लिया है, उसे आत्मयज्ञमान की पुनीत यज्ञशाला बना लिया है। पाप और पतन से मुक्त और सर्वतः समुत्थित होकर वे अब पृथिवी के जन-जन को पतन और पाप से बचाने का दिव्य सन्देश दे रहे हैं, वे अपनी वाणी और अपने जीवनादर्श के द्वारा जन-जन के जीवन को दिव्य बनाने की सुप्रेरणा कर रहे हैं। लोग कहने लगते हैं, "देवो, तुम्हारा कथन सत्य है, तुम्हारा प्रयास स्तुत्य है। परन्तु हम साधारण जन अपने जीवनों को दिव्य बना सकेंगे, यह असम्भव नहीं तो दुष्कर अवश्य है"। लोगों की इस जनवदन्ती के उत्तर में देवयाजक कह रहे हैं—

१) लोगो ! (व्रतं कृणुत) व्रत करो, व्रत धारण करो, व्रती बनो।

इसमें सन्देह नहीं कि जीवन के दिव्यीकरण की साधना दुस्तर है, किन्तु है करणीय और वाञ्छनीय। साधना कितनी भी कठिन क्यों न हो,

व्रती बनकर यथावत् अभ्यास करने से वह सरल और सुलभ होजाती है। अतः तुम आत्म-दिव्यीकरण का व्रत धारण करके तदर्थ साधना करो।

२) लोगो ! (ब्रह्म अग्निः) ब्रह्म अग्नि है।

अग्नि पावक है, पवित्र करनेवाला है। अग्नि प्रकाशक है, प्रकाश करनेवाला है। जो भी पदार्थ अग्नि में सर्मपित होजाता है, वह अग्निरूप होजाता है, पवित्र और प्रकाशयुक्त होजाता है। एवमेव यदि तुम आत्मना ब्रह्म में सर्मपित और समाहित होने का अभ्यास करोगे तो पवित्र और प्रकाशित होकर, शुद्ध और बुद्ध बनकर, दिव्य बन जाओगे।

३) लोगो ! (यज्ञः अग्नि) यज्ञ अग्नि है।

यज्ञ भी अग्नि है, पावक और प्रकाशक है, शोधक और बोधक है। यदि तुम अपनी जीवन-हवि को शोधकर दिव्यीकरण के यज्ञ में सुहुत करोगे तो निस्सन्देह तुम स्वयं दिव्य बनकर अपने दिव्य जीवनों से विश्व में दिव्यता की व्याप्ति कर सकोगे।

४) लोगो ! (वनस्पतिः यज्ञियः) वनस्पति यज्ञीय है।

वटवृक्ष ही नहीं, सब ही वृक्ष, यज्ञीय हैं, अग्निहोत्रवत् परोपकारी हैं। वृक्ष अपने लिये नहीं फलते हैं, परार्थ फलते हैं। वृक्ष अपने फल स्वयं नहीं खाते हैं, दूसरों को खिलाते हैं। तुम वनस्पतिवत् यज्ञीय-परोपकारी बनो। तुममें यज्ञीयता आयेगी, दिव्यता समायेगी।

१) देवयाजकों के दिव्य वचनों से प्रेरित और प्रोत्साहित होकर लोग कहने लगते हैं—देवयाजको ! (अभिष्टये) अभीष्ट के लिये, तुम्हारे द्वारा प्रेरित इस दिव्य साध की संसिद्धि के लिये, हम तुमसे (देवीं) देवी, दिव्य, (सु-मृडीकां) सु-सुखा, सुसुख-सम्पादिका, (वर्चःधां) वर्च-धारिका, रूप-तेज-सौन्दर्य-प्रस्थापिका, (यज्ञ-वाहसं) यज्ञ-वाहिका, दिव्यीकरण के यज्ञ का नयन करनेवाली, (सु-तीर्था) सु-तारिका, विघ्नबाधाओं से सुष्ठुतया पार उतारनेवाली, पाप ताप से उद्धारनेवाली (धियं) धारणा को (मनामहे) चाहते-याचते हैं। वह धारणा (नः वशे असत्) हमारे वश में होजाये।

धारणा निस्सन्देह दिव्यता की साधना का परम साधन है। धारणावान् व्यक्ति कठिन से कठिन साधना को सिद्ध कर दिखाते हैं। निरन्तर लक्ष्य की ओर अग्रसर करनेवाली निर्णायक सुस्थिर मति का नाम धारणा है। धारणा का वशीकार होने पर मनुष्य धारणावान् बनता है। दिव्यीकरण के व्रतियों की धारणा कैसी हो ? उनकी धारणा हो दैवी, सुमृडीका, वर्चोधा, यज्ञवाहस और सुतीर्था और हो साथ ही पूर्णतया वशीकृत, अविचल, अशिथिल, निश्चल, ध्रुव, स्थिर, सुस्थिर। देवयाजक जनता को वह प्रखर विचार और वह ध्रुव धारणा प्रदान करें कि समग्र जनता धारणावान् बनकर अपने जीवन को दिव्य बनाने और विश्व के दिव्यीकरण के यज्ञ का अनुष्ठान करने में सोत्साह तत्पर होजायें और तदर्थ सदा सन्नद्ध रहें।

२) साधारण जनों के लिये धारणा का वशीकार करके धारणावान् बनना और बने रहना कोई सामान्य कार्य नहीं है। इसके लिये मानव-समाज में एक विशेष वातावरण व्यापने की आवश्यकता होती है। इस वातावरण का सम्पादन प्रकाशित-मन, समाहित-मन कर्मकुशल देवयाजक ही कर सकते हैं। इसी तथ्य को अनुभव करते हुये सर्वजन कह रहे हैं—(ये) जो (मनःजाताः) मन से

प्रकाशित, प्रकाशित मनवाले, (मनःयुजः) मन से युक्त, समाहित-मन, योगयुक्त मनवाले (दक्ष-क्रतवः) दक्ष-क्रतु, कर्तृत्व-दक्ष, कर्मकुशल (देवाः) देव हैं, देवयाजक हैं, (ते नः अवन्तु) वे हमें / हमारी रक्षा करें, (ते नः पान्तु) वे हमें / हमारी सुरक्षा करें। वे अपनें उपदेश और अपनी प्रेरणाओं द्वारा हमें ऐसा धारणावान् बनाये रखें कि हम अपने जीवनों को दिव्य बनाने में सदा रत निरत रहें।

३) देवयाजकों की रक्षा सुरक्षा में आत्म-दिव्यता का सम्पादन करते हुये सर्वजन कृत्य-कृत्य होरहे हैं और देवयाजकों पर मुग्ध सुमुग्ध होकर कह रहे हैं—(तेभ्यः स्वाहा) उनके लिये स्वाहा, उन देवयाजकों के लिये हमारा स्व सर्वस्व समर्पित है, हम उन देवयाजकों के प्रति पूर्ण आत्मसमर्पण करते हैं।

करो व्रत तुम,
ब्रह्म अग्नि है,
यज्ञ अग्नि है,
वनस्पति यज्ञीय।
याचते हैं हम,
तुमसे धारणा,
दैवी सुसुखा,
वर्च-धारिका,
यज्ञ-वाहिका,
और सुतारिका,
अभीष्ट-सिद्धि के हेतु।
रहे धारणा सदा,
हमारे वश में।
प्रकाशित-मन,
समाहित-मन
कर्मकुशल जो देव,
रक्षा वे ही करें हमारी,
संरक्षा वे करें हमारी।
स्वाहा उनके लिये,
हमारा स्व और स्वसर्वस्व ॥

सूक्ति—व्रतं कृणुत ॥
व्रत करो, व्रती बनो ॥
दैवीं धियं मनामहे ॥
हम दैवी धारणा चाहते हैं ॥

**श्वात्राः पीता भवत यूयमापो अस्माकमन्तरुदरे सुशेवाः।**
**ता अस्मभ्यमयक्ष्मा अनमीवा अनागसः स्वदन्तु देवीरमृता ऋतावृधः ॥**

(य० ४।१२)

श्वात्राः पीताः भवत यूयं आपः अस्माकं अन्तः उदरे सु-शेवाः।
ताः अस्मभ्यं अ-यक्ष्माः अन्-अमीवाः अनागसः स्वदन्तु देवीः अमृताः ऋत-वृधः ॥

श्वात्राः शब्द में आशुगामिता, शीघ्रता अथवा स्फूर्ति का भाव निहित है।

शेवृ सेवने। शेवृ धातु का अर्थ है सेवन या सेवा करना। सेवन या सेवा से सुख प्राप्त होता है। इसी से सु-शेवाः का अर्थ है सुसेवनीय, सुसेवायोग्य, सुसुखयित्री।

क्षय अथवा क्षीणता लानेवाली प्रत्येक चेष्टा वा क्रिया का नाम है यक्ष्मा। उन्माद अथवा बौद्धिक ह्रास का नाम भी यक्ष्मा है।

अमीव नाम रोग का है, प्रत्येक उस रोग का, जो रस अथवा धातु की अपरिपक्वता के कारण होता है।

यद्यपि अगस् अथवा अगः का अर्थ पाप किया जाता है, तथापि पाप और अगः में एक मौलिक भेद है। पाप मन का विषय है और अगः विचार का। वैचारिक पाप का नाम अगः है।

ऋत का प्रयोग यहां सत्य ज्ञान [Right knowledge] के अर्थ में हुआ है। ऋत शब्द का ही रूपान्तर अंग्रेज़ी का राइट [Right] शब्द है।

देवयाजकों की साधु साधनायें फलवती होरही हैं। उनकी सुप्रेरणायें दिव्य फल ला रही हैं। एक ओर मानव प्रजा व्रती बनकर और दैवी धारणा से युक्त होकर अपना दिव्यीकरण करती चली जारही है। दूसरी ओर प्रकाशित और समाहित मन वाले कर्मकुशल देवयाजक जनता की रक्षा संरक्षा करते हुये उनका मार्गदर्शन कर रहे हैं। जनता देवयाजकों पर मुग्ध सुमुग्ध होरही है और उनके चरणों पर अपना स्व सर्वस्व समर्पित करके उन्हें साधन-सम्पन्न बना रही है। मानव समाज में दिव्यता की सुपावन धारायें बह रही हैं। आनन्दविभोर हो हो कर मानव गीयमान होरहे हैं, तरंगित हो हो कर आनन्दगान कर रहे हैं—(आपः) दिव्यता की दिव्य धाराओ! (अस्माकं उदरे अन्तः) हमारे उदर के भीतर, हमारे अन्तः-करण में (पीताः) पीयी जाती हुयी (यूयं) तुम (श्वात्राः) स्फूर्तिदायिनी तथा (सु-शेवाः) सुसेवनीया और सुसुखयित्री (भवत) होती रहो। जिस प्रकार शीतल जल पिये जाने पर उदर में पहुंचकर चेतना और शान्ति प्रदान करते हैं, वैसे ही तुम आत्मसात् होकर हमारे अन्तःकरण में प्रचेतना और प्रशान्ति प्रस्थापन करो।

और दूसरे ही क्षण वे आत्मकामना करने लगते हैं—दिव्यता की (ताः) वे (अ-यक्ष्माः) क्षयरहित (अनु-अमीवाः) रोगरहित (अनु-अगसः) पापरहित (अमृताः) अमृतमयी (ऋत-वृधः) ऋत-वर्धिनी (देवीः) दिव्य धारायें (अस्मभ्यं) हमारे लिये (स्वदन्तु) स्वाद-स्वादिष्ठता करें।

दिव्यता की अमृतमयी दिव्य धारायें प्रत्यक्षतः सुसेवनीय होती हैं और सेवन की जाने पर वे जहां एक ओर अन्तःकरण में स्फूर्ति प्रदान करती हैं और परम सुखदायिनी होती हैं, वहीं वे दूसरी ओर क्षीणता, अपरिपक्वता तथा पाप से रक्षा करके ऋत की प्रापिका होती हैं। अस्वादु जीवनों को वे स्वादिष्ठ बनाती हैं।

धाराओ! तुम पीयी जाकर,  
हमारे उदरों के भीतर,  
होओ श्वात्रा और सुशेवा।  
दिव्यतायें वे अक्षय रोगरहित निष्पाप,  
अमृतमयी और ऋत-वर्धक,  
करें हमारे लिये स्वादुता॥

**इयं ते यज्ञिया तनूरपो मुञ्चामि न प्रजाम्।**  
**अंहोमुचः स्वाहाकृताः पृथिवीमाविशत पृथिव्या सम्भव॥ (य० ४।१३)**  
**इयं ते यज्ञिया तनूः अपः मुञ्चामि न प्रजाम्।**  
**अंहःमुचः स्वाहा-कृताः पृथिवीं आ-विशत पृथिव्या सं-भव॥**

देवयाजक अपने दिव्य जीवन से दिव्यता की सुपावन धारायें बहाये चला जारहा है। वह ज्यों ज्यों पृथिवी के दिव्यीकरण की साध में आगे बढ़ता है, त्यों त्यों उसके मार्ग को कठिनाइयां कठिन से कठिनतर होती दिखायी देती हैं। एक ओर स्वयं जनसमुदाय अपनी मानवी दुर्बलताओं

के कारण उठ उठ कर गिर गिर जाता है, तो दूसरी ओर निहितस्वार्थ असुर उनकी जान के ग्राहक हो रहे हैं। इन परिस्थितियों में अदम्य देवयाजक अपने वक्ष पर अपना दक्षिण हस्त रखकर स्वयं अपने आपको सम्बोधन करके कह रहा है—रे देवयाजक! (ते इयं तनूः यज्ञिया) तेरी यह तनू यज्ञिया है, तेरी यह जीवनी यज्ञार्थ है, तेरी यह देह दिव्यीकरण के देवयाग में स्वाहा करने के लिये ही है। कुछ भी हो, तुझे अपनी इस जीवनहवि को इस दिव्य याग में होमते हुये चलना है।

जनविरोध का आत्मनिरोध के साथ साम्मुख्य करता हुआ देवयाजक पुनः पुनः कह उठता है—मैं (अपः मुञ्चामि) प्राणों को छोड़ता हूं, (न प्रजां) प्रजा-जनता को नहीं। मैं अपने प्राणों को त्याग दूंगा, जनहित और जनदिव्यीकरण का परित्याग कदापि न करूंगा। प्राणों के मूल्य पर भी मैं पृथिवी की प्रजा के दिव्यीकरण का यज्ञ किये ही चला जाऊंगा। [अपः वै प्राणाः]।

और साथ ही कुछ हतोत्साहित और शिथिल हुये से अपने साथी देवयाजकों को प्रोत्साहित करता हुआ वह अदम्य देवयाजक कहता है—देवयाजको! तुम (अंहःमुचः) पाप-मोचक और (स्वाहाकृताः) स्वाहाकारी होकर (पृथिवीं आ-विशत) पृथिवी को प्रवेशो-व्यापो। यदि पृथिवी अंहपूर्ण है, पाप से पूरित है, तो तुम पृथिवी को पापमुक्त करो। यदि पृथिवी की प्रजा पतित है तो तुम पतितपावन बनकर उनका उद्धार और दिव्यीकरण करो। निस्सन्देह साध विकट और दुस्तर है। पर पीछे न हटो। अपने साहस और संबल को संभाल कर स्वसर्वस्व की आहुति दो और अपने व्रत को पूरा करो।

अन्त में अपने एक एक साथी देवयाजक को प्रोत्साहित करता हुआ अदम्य देवयाजक कहता है—यह ठीक है कि पृथिवी बहुत विशाल है और उसके दिव्यीकरण की समस्यायें बहुत अधिक हैं। किन्तु विकल्प एक ही है और वह यह कि तू (पृथिव्या सं-भव) पृथिवी के साथ संयुक्त होजा। सब समस्याओं का समाधान इसी में है कि तू पृथिवी के साथ जुट जा और पार्थिव समस्याओं का समाधान करके दिखा।

है यह तेरी तनू यज्ञिया,
प्राणों को त्यागूं न प्रजा को।
पाप-विमोचक स्वाहाकारियो,
व्याप जाओ सारी पृथिवी को।
पृथिवी से संयुक्त युक्त हो,
जुट पृथिवी से समाधान कर॥

सूक्ति—इयं ते यज्ञिया तनूः।
तेरी यह जीवनी यज्ञीया है।
पृथिव्या सं-भव।
पृथिवी से संयुक्त होजा॥

अग्ने त्वं सु जागृहि वयं सु मन्दिषीमहि।
रक्षा णो अप्रयुच्छन् प्रबुधे नः पुनस्कृधि॥ (य० ४।१४)
अग्ने त्वं सु जागृहि वयं सु मन्दिषीमहि।
रक्ष नः अप्रयुच्छन् प्र-बुधे नः पुनः कृधि॥

पूर्व मन्त्र में अदम्य देवयाजक ने अपने हतोत्साहित साथियों को प्रोत्साहित करते हुए कहा था— "देवयाजको! पापमोचक और स्वाहाकारी बनकर पृथिवी के दिव्यीकरण के लिये पृथिवी पर व्याप जाओ"। अपने नायक की सुप्रेरणा से प्रोत्साहित होकर वे पुनः साधनारूढ़

होते हैं और अपने दिव्य नायक से निवेदन करते हैं—

(अग्ने) अग्रणे ! नेतः ! नायक ! (त्वं सु जागृहि) तु सुष्ठुतया जागृत रह, हमारे प्रति इसी प्रकार सजग सावधान रहता हुआ हमें चेताता रह।

तेरी जागरूकता से (वयं) हम (सु मन्दिषीमहि) सुष्ठुतया आनन्दित रहें, आनन्दपूर्वक इस दिव्य साध में रत निरत रहें।

(अप्रयुच्छन्) प्रमाद न करता हुआ, सतर्क रहता हुआ, तू (नः) हमें/हमारी (रक्ष) रक्षा कर। सुरक्षापूर्वक हमारा मार्गदर्शन और पथप्रशस्तन करता रह।

(नः पुनः प्र-बुधे कृधि) हमें पुनः पुनः प्रबोध में कर, हमें पुनः पुनः प्रबुद्ध करता रह।

अग्ने सदा जागता रह तू,
हम आनन्दित रहें निरन्तर।
रहता हुआ सतर्क हमारी रक्षा कर तू,
पुनः पुनः प्रबोध कराता रह तू सन्तत॥

सूक्ति—अग्ने त्वं सु जागृहि॥
नेतः ! तू सुष्ठुतया जागता रह॥
वयं सु मन्दिषीमहि॥
हम सुष्ठुतया आनन्दित रहें॥
प्रबुधे नः पुनस्कृधि॥
हमें पुनः पुनः जागृतावस्था में कर,
हमें पुनः पुनः प्रबुद्ध कर॥

**पुनर्मनः पुनरायुर्म आगन् पुनः प्राणः पुनरात्मा म आगन्**
**पुनश्चक्षुः पुनः श्रोत्रं म आगन्। वैश्वानरो अदब्धस्तनूपा**
**अग्निर्नः पातु दुरितादवद्यात्॥** (य० ४।१५)

पुनः मनः पुनः आयुः मे आ अगन् पुनः प्राणः पुनः आत्मा मे आ अगन् पुनः चक्षुः पुनः श्रोत्रं मे आ अगन्। वैश्वानरः अदब्धः तनू-पाः अग्निः नः पातु दुःइतात् अ-वद्यात्॥

मन्त्र १३ में अदम्य देवयाजक ने अपने एक-एक साथी देवयाजक को प्रोत्साहित करते हुए कहा था—पृथिवी के दिव्यीकरण के मार्ग की समस्याओं के समाधान के लिये पृथिवी के साथ संयुक्त होजा। अपने नायक की इस उदात्त प्रेरणा से अनुप्राणित होकर प्रत्येक देवयाजक कह रहा है—दिव्य नेतः ! तेरी प्रेरणा से (मे) मेरे लिये, मुझे (पुनः मनः आ अगन् पुनः आयुः) पुनः मन आया और पुनः आयु, (मे पुनः प्राणः आ अगन् पुनः आत्मा) मेरे लिये पुनः प्राण आगया और पुनः आत्मा, (मे पुनः चक्षुः आ आगन् पुनः श्रोत्रं) मेरे लिये पुनः चक्षु आगया और पुनः श्रोत्र।

मन के शिवसंकल्प की दृढ़ता और मन के उत्साह के बिना कोई भी साधना सिद्ध और सफल नहीं हो पाती है। संकल्प और उत्साह की शिथिलता का नाम है मन का जाना। संकल्प और उत्साह के पुनः प्रस्फुरित होने का नाम है मन का पुनः आना।

जब मन चला जाता है तो जीवन निर्जीव होजाता है। जीवन के निर्जीव होने से स्वास्थ्य क्षीण होता है। निर्जीवता और स्वास्थ्यक्षीणता से आयु क्षीण होने लगती है, प्राण दुर्बल होने लगता है, आतमबल का ह्रास होने लगता है, चक्षु [दर्शनशक्ति] और श्रोत्र [श्रवणशक्ति] क्षीण होने लगते हैं।

जब मन पुनः आजाता है तो जीवन में सजीवता आजाती है। जीवन के सजीव होने से मनुष्य सर्वतः स्वस्थ होजाता है। सजीवता और स्वस्थता से आयु की वृद्धि होने लगती है, प्राण प्रबल होने लगता है, आत्मबल ठाठें मारने लगता है, चक्षु [दर्शनशक्ति] और श्रोत [श्रवणशक्ति] पुनः पूर्णता को प्राप्त होने लगते हैं।

इसी रहस्य की साक्षात् अनुभूति से अनुभूत होने पर एक-एक देवयाजक के मुंह से निकल रहा है—मेरा मन पुनः आगया है। मेरे जीवन में पुनः सजीवता आगयी है। मुझे नया जीवन और दीर्घायुष्यता प्राप्त होगयी है। मेरा प्राण पुनः सशक्त होगया है। मैं फिर आत्मबल से युक्त होगया हूं। मेरे चक्षु और मेरे श्रोत्र में पुनः पूर्णता परिपूर्णता आगयी है।

मन, आयु, प्राण, आत्मा, चक्षु और श्रोत्र के पुनरागमन से प्रत्येक देवयाजक का जीवन अब सर्वशः जीवित होगया है। जीवित जीवन से पुनः सजीव संजीव होकर समस्त देवयाजक प्रभु से प्रार्थना करने लगते हैं—(वैश्वानरः) विश्व-आ-नर, विश्व नायक (अदब्धः) अहिंस्य, अजर, अमर (तनू-पाः) जीवनरक्षक, जीवनों की रक्षा करनेवाला (अग्निः) प्रकाशस्वरूप देव (नः पातु) हमें बचाये, हमारी रक्षा करे, (दुःइतात्) दुःगति से, दुर्गति से तथा (अ-वद्यात्) अ-वद्य से, अ-प्रशस्ति से।

निर्जीवता और शिथिलता से दुर्गति और अप्रशस्ति होती है। सजीवता और संजीवता से प्रगति और प्रशस्ति होती है। प्रगति प्रशस्ति की जननी है। पृथिवी के दिव्यीकरण की प्रगति के लिये प्रशस्ति आवश्यक है। जिनकी प्रशस्ति और प्रतिष्ठा होती है, उन्हीं का संसार में मान और विश्वास होता है। देवयाजकों की जनता में प्रशस्ति और प्रतिष्ठा अपि च मान और विश्वास होगा, तभी जन-जन उनकी साध में सहायक होकर उनके साथ और उनके पीछे चलेगा और तभी सार्वभौम दिव्यीकरण की साध पूरी होगी।

पुनः आगया मेरा मन और मेरा आयु,
पुनः आगया मेरा प्राण और मेरा आत्मा,
पुनः आगया मेरा चक्षु और मेरा कर्ण।
विश्व-नियन्ता अमर तनूपा देव प्रकाशक,
हमें बचाये दुर्गति से और अप्रशस्ति से॥

सूक्ति—अग्निर्नः पातु दुरितादवद्यात्॥
ब्रह्माग्नि दुर्गति और अप्रशस्ति से
हमारी रक्षा करे॥

**त्वमग्ने व्रतपा असि देव आ मर्त्येष्वा। त्वं यज्ञेष्वीड्यः।**
**रास्वेयत्सोमा भूयो भर देवो नः सविता वसोर्दाता वस्वदात्॥**

[ऋ० ८. ११. १, अ० १९. ५९. १] (य० ४।१६)

त्वं अग्ने व्रत-पाः असि देव आ मर्त्येषु आ। त्वं यज्ञेषु ईड्यः।
रास्व इयत् सोम आ भूयः भर देवः नः सविता वसोः दाता वसु अदात्॥

वैश्वानर अदब्ध अग्नि से अपनी प्रार्थना जारी रखते हुये देवयाजक विनय कर रहे हैं—

१) अग्ने! (त्वं व्रत-पाः असि) तू व्रत-पा है, व्रतों की रक्षा करनेवाला है, व्रतों का पालन करानेवाला है। हम व्रती हैं। हमने पृथिवी के दिव्यीकरण का व्रत धारण किया हुआ है। सर्वनियन्तः! हमारे व्रत की रक्षा कर। इस व्रत की संसिद्धि में हमें अविचलता के साथ निरत रख।

२) देव ! (आ मर्त्येषु आ) आ, मानवों में आ, इन मनुष्यों में प्रवेश कर।

अनात्मा हि मर्त्यः। मर्त्येति मनुष्य नाम। मरणधर्मा अथवा मरणशील का नाम मर्त्य है। मर्त्य नाम मनुष्य का भी है। शरीर मर्त्य है। आत्मा अमर्त्य है। शरीर से मनुष्य मरणधर्मा है, मरणशील है। आत्मना मनुष्य अमर्त्य है, अमृत है, न मरनेवाला है। मनुष्य आत्मा और अनात्मा का समुच्चय है। जनसाधारण आत्मा को भुलाकर अनात्मा में रत रहते हैं। इसीसे वे अमर्त्य होते हुये भी मर्त्य जैसे ही हैं। ऐसे मनुष्यों के लिये ही यहां मर्त्य शब्द का प्रयोग हुआ है।

पृथिवी भर के मर्त्यों का दिव्यीकरण तब ही होगा, जब उनमें स्वयं दिव्य देव का प्रवेश होगा, जब उनमें दिव्य देव की दिव्यता का संचार होगा। लोहा या कोयला अग्निरूप तब ही होता है, जब उसमें अग्नि का प्रवेश या संचार होता है। इसी भावना से देवयाजक निवेदन कर रहे हैं, "देव ! माया के रंग में रंगे हुये ये मानव दिव्य तब ही होंगे, जब तू स्वयं इनमें प्रविष्ट [प्रज्वलित] होकर, इनमें अपनी दिव्यता का संचार करेगा। देव, आ, इन मर्त्यों में प्रकट प्रकाशित होकर इन्हें दिव्य करदे"।

३) (त्वं यज्ञेषु ईड्यः) तू यज्ञों में स्तुत्य है।

प्रत्येक यज्ञीय अथवा श्रेष्ठ कर्म यज्ञ है। सभी यज्ञों में वह वैश्वानराग्नि स्तवनीय है, स्तुति किये जाने योग्य है। फिर पृथिवी के दिव्यीकरण का यज्ञ तो यज्ञीयतम और श्रेष्ठतम है। इस देवयजन में तो उसका भूयो भूयः स्तवन करना ही चाहिये। स्तुति से स्तोता स्तुत्य बन जाते हैं। स्तोता स्तुत के जिन जिन गुणों का स्तवन करते हैं, उन उन गुणों से वे स्वयं युक्त होजाते हैं। वैश्वानराग्नि की स्तुति करने से देवयाजकों में विश्व-नायकत्व की स्थापना होगी। विश्व के दिव्यीकरण के लिये विश्व-नायकत्व की प्रत्यक्षतः आवश्यकता है। इसी भावना से देवयाजक दिव्य देव से आत्म-निवेदन कररहे हैं—देव ! तू यज्ञों में स्तवनीय है। इस देवयजन में हम तेरा स्तवन करते हैं।

४) (सोम) ! (इयत् रास्व) इतना दे, (भूयः आ भर) बहुत भर दे।

सोमो वै सौम्यः। जिसमें सौम्यता होती है, उसे सोम कहते हैं। अतिशय प्रियता और आह्लाद का भाव भी सोम शब्द में है। सोम नाम चन्द्रमा का इसी लिये है कि चन्द्रमा अतिशय सौम्य, प्रिय और आह्लादक है। जो जितना सौम्य होता है, वह उतना ही प्रिय और आह्लादक होता है। वैश्वानराग्नि को ही ऊपर देव नाम से पुकारा गया है और उसी को यहां सोम नाम से सम्बोधित किया गया है। जो अपना अतिशय प्रिय होता है, उसीसे मांगा जाता है और वह ही मांगने वाले की झोली भरता है।

पृथिवी के दिव्यीकरण की साध जहां तपःसाध्य है, वहां द्रव्य-साध्य भी है। देवयाजक प्रार्थना कर रहे हैं—सोम ! इतना दे कि पृथिवी के दिव्यीकरण के इस देवयजन की साध सुचारुता के साथ पूरी होजाये। इस यज्ञ में जहां आध्यात्मिक साधना की अपेक्षा है, वहां भौतिक साधनों की अपेक्षा भी है। उसी के दिव्य कार्य के लिये उससे मांगा जायेगा, तो उसकी प्रेरणा से अवश्यमेव सब कुछ मिलेगा।

५) (वसोः दाता देवः सविता) ऐश्वर्य के दाता देव सविता नें (नः वसु अदात्) हमें ऐश्वर्य देदिया, हमें धन प्रदान करदिया।

वस निवासे। वास, निवास अथवा जीवन के साधन का नाम वसु है। जीवन का साधन होने से ही धन वसु है, आत्मा वसु है, ब्रह्म वसु है, प्राण वसु है, आवास वसु है, ज्ञान वसु हैं, विज्ञान वसु है। अनन्ता वै वसवः। वसु अनन्त हैं। यहां वसु का प्रयोग धन के अर्थ में हुआ है।

भला यह हो सकता था कि उस महादानी वैश्वानराग्नि से धन मांगा जाता और न मिलता। वह तो देव सविता है, दिव्य प्रसविता है, सकल दिव्य ऐश्वर्यों का सम्पादक है। उसके सकल ऐश्वर्य देने के लिये ही हैं। देवयाजकों ने उसी के कार्य के लिये उससे मांगा और उसने उनकी झोलियां भरदीं। उस परम धनपति के अनन्त धन हैं। उन्हें वह अपने याचकों को यथापात्र अनवरत देता रहता है।

अग्ने तू व्रतों का पालक,
आ, इन मर्त्यों में आ, देव,
स्तवनीय है तू यज्ञों में।
सोम, दे इतना, भूरि भर दे,
वसु के दाता देव सविता ने,
हमें कर दिया वसु प्रदान॥

सूक्ति—त्वमग्ने व्रतपा असि॥
प्रभो, तू व्रतों की रक्षा करनेवाला है।
देव आ मर्त्येष्वा॥
देव, आ, मर्त्यों में आ॥
त्वं यज्ञेष्वीड्यः॥
तू यज्ञों में स्तवनीय है॥

एषा ते शुक्र तनूरेतद्वर्चस्तया सम्भव भ्राजं गच्छ।
जूरसि धृता मनसा जुष्टा विष्णवे। (य० ४।१७)

एषा ते शुक्र तनूः एतत् वर्चः तया सं-भव भ्राजं गच्छ।
जूः असि धृता मनसा जुष्टा विष्णवे॥

शुक्र का अर्थ हैं नितान्त शुद्ध, अतिशय पवित्र। परमात्मा शुक्र है। आत्मा शुक्र है। देवयाजक शुक्र है।

तनु विस्तारे। विस्तार विकास का साधन होने से मानव की इस जीवनी का नाम तनू है।

रूप, तेज और सौन्दर्य के संयोग का नाम वर्च है। सुरूपता, तेजस्विता और सुन्दरता से जो सम्मोहकता झलकती है, उसे वर्च कहते हैं।

भ्राजृ दीप्तौ। भ्राज नाम दीप्ति का है, उस अन्तःदीप्ति का, जो अन्धकार को हटाकर प्रकाश पूर देती है।

जू नाम है पवन के उस वेग का, जो वृक्षों, भवनों और पर्वतों को झकझोर कर नीचे गिरा देता है।

धृञ धारणे। जुषी प्रीतिसेवनयोः। धृता का अर्थ है धारित, संधारित, सुपोषित, परिष्कृत, सुसंस्कृत। जुष्टा का अर्थ है प्रीतिपूर्वक सेवनीय, सप्रेम साधनीय, सस्नेह सेवन की जाने योग्य। शरीर सम्पूर्ण साधनाओं का साधन है। इसीलिये देवयाजक साधना द्वारा अपनी तनू को धृता और जुष्टा बनाता है।

यज्ञो वै विष्णुः। वीर्यं विष्णुः। विष्णुरयं लोकः। अदितिरियं विष्णुः।

विष्लृ व्याप्तौ। विष्णु शब्द का अर्थ है व्यापक। व्यापक सत्ता या कर्म का नाम विष्णु है। यज्ञ [अग्निहोत्र] से सुगन्धि व्यापती है, इसीसे यज्ञ विष्णु है। वीर्य [पराक्रम] के द्वारा मनुष्य व्यापता हैं, इसीसे वीर्य विष्णु है। यह लोक, यह अदिति, यह पृथिवी, व्यापनशीला [विस्तारमयी] होने से विष्णु है। अखिल ब्रह्माण्ड में व्यापा हुआ होने से परमात्मा विष्णु है। यहां विष्णु शब्द का प्रयोग पृथिवी के लिये हुआ है।

देवयाजक ने पृथिवी के दिव्यीकरण के लिये धनदाता देव सविता से धन मांगा और उसे धन मिल गया। किन्तु वह अब यह भी साक्षात् अनुभव करता है कि धन अथवा भौतिक साधनों का दिव्यीकरण की साधना में गौण स्थान है, प्रमुख नहीं। इस दिव्य साध की सिद्धि में प्रमुख स्थान स्वयं साधक के अपने आत्मा और उसकी अपनी तनू का है। यदि उसका अपना आत्मा निर्मल और उसकी अपनी तनू धृता और जुष्टा है, तो ही धन और भौतिक साधन वरदान सिद्ध होंगे। इस अनुभूति के साथ अनायास ही वह आत्मसम्बोधन करता हुआ अपने आपसे बातें करने लगता है—

१) मेरे (शुक्र) संशुद्ध आत्मन्! तेरा (एतत् वर्चः) यह वर्च है। तेरी तनू में जो वर्च है, वह तेरा ही है। (भ्राजं गच्छ) दीप्ति को प्राप्त कर। उस दीप्ति का सम्पादन कर, उस आत्मदीप्ति से युक्त रह, जो जन-जन के अज्ञानान्धकार को तिरोहित करके उनमें ज्ञान का प्रखर प्रकाश फैलादे। तू (जूः असि) वेगवान् है, ऐसा वेगवान् कि बाधाओं और आपत्तियों की चट्टानों को चूर चूर करदे।

२) और मेरे (शुक्र) सुपावन आत्मन्! (एषा धृता जुष्टा तनूः) यह सुसंस्कृत और सुसेवनीय तनू (ते) तेरी हैं, तेरे लिये है। (विष्णवे) पृथिवी के लिये, पृथिवी के दिव्यीकरण के लिये, (तया) उस [तनू] से और तनू में संस्थित (मनसा) मन से (सं-भव) संयुक्त हो, संयुक्त रह, सम्यक् सम्पन्न रह।

शुक्र! वर्च यह,
सम्पादन कर आत्मदीप्ति का,
वेगवान् तू।
यह सुसेवनीया सुसंस्कृता,
तनू है तेरी, तेरे लिये,
दिव्यीकरण के हेतु पृथिवी के,
उससे मनसे रह सम्पन्न॥

**तस्यास्ते सत्यसवसः प्रसवे तन्वो यन्त्रमशीय स्वाहा।**
**शुक्रमसि चन्द्रमस्यमृतमसि वैश्वदेवमसि॥ (य० ४।१८)**

तस्याः ते सत्य-सवसः प्र-सवे तन्वः यन्त्रं अशीय स्वाहा।
शुक्रं असि चन्द्रं असि अमृतं असि वैश्व-देवं असि॥

षू प्रेरणे धातु से सव और प्रसव शब्दों की उत्पत्ति हुई है। सव का अर्थ है प्रेरणा। प्रसव का अर्थ है सुप्रेरणा।

देवयाजक पुनः अनुभव करता है कि पृथिवी के दिव्यीकरण में प्रमुख स्थान यद्यपि उसके अपने आत्मा और उसकी अपनी तनू का है, तथापि केवल आत्मावलम्ब से यह महतो महान् और उदात्तोदात्त साधना सफल होनेवाली नहीं है। इस साधना का परम अवलम्ब तो केवल सत्यस्वरूप परमात्मा है। साधना की निश्चित

और पूर्ण सिद्धि तो तब ही होगी, जब सत्य का प्रेरक परमात्मा अपनी सुप्रेरणा से उसे सर्वत्र सत्य पथ और सत्य पग सुझायेगा। इसी भाव से भावित होकर वह प्रभु से प्रार्थना करनें लगता है—प्रभो! तू (शुक्रं असि) परम शुद्ध है, (चन्द्रं असि) आह्लादक है, (अमृतं असि) अमृतमय है, (वैश्व-देवं असि) वैश्व-देव है, अखिल विश्व का द्योतन करनेवाला है। मैं तेरे प्रति (स्वाहा) सुहुत समर्पित रहूं। (सत्य-सवसः) सत्य-प्रेरक की [सत्प्रेरणे!], मैं (तस्याः ते) उस तेरी (प्र-सवे) सुप्रेरणा में (तन्वः यन्त्रं) तनू के यन्त्र को (अशीय) सेवन करूं, साधना-रत रखूं।

देवयाजक का तनू एक यन्त्र है, जिसका सुष्ठु संचालन परम पावन, परम आह्लादक, अमृतमय और विश्वद्योतक प्रभु से ही होता है। जब देवयाजक अपने जीवन-यन्त्र का प्रेरक स्वयं भगवान् को बना लेता है, तब ही वह दिव्यीकरण के सुपथ पर दृढ़ता और तीव्रता के साथ चल पाता है और तब ही वह अन्त तक निरन्तर साधनारत रह पाता है। परन्तु जीवन-रथ-का संचालक प्रभु तब ही बनता है, जब देवयाजक प्रभु के प्रति सर्वात्मना समर्पित रहता है।

तू है शुक्र, चन्द्र, और अमृत,  
वैश्व-देव है स्वयं तू।  
सत्य-सवस् की सत्य प्रेरणे,  
उस तेरे ही सत्यप्रेरण में,  
जीवन-यन्त्र चले यह मेरा॥

**चिदसि मनासि धीरसि दक्षिणासि क्षत्रियासि**  
**यज्ञियास्यदितिरस्युभयतः शीर्ष्णी।**  
**सा नः सुप्राची सुप्रतीच्येधि मित्रस्त्वा पदि बध्नीतां**  
**पूषाध्वनस्पात्विन्द्रायाध्यक्षाय॥ (य० ४।१९)**

चित् असि मना असि धीः असि दक्षिणा असि क्षत्रिया असि  
यज्ञिया असि अदितिः असि उभयतः शीर्ष्णी।  
सा नः सु-प्राची सु-प्रतीची एधि मित्रः त्वा पदि बध्नीतां  
पूषा अध्वनः पातु इन्द्राय अधि-अक्षाय॥

सत्यप्रेरक देव की सत्प्रेरणा में देवयाजक साधनापथ पर बढ़ा चला जारहा है। वह देखता है कि पद-पद पर उसके सामने विघ्नबाधाओं के पर्वत खड़े हैं, पग-पग पर सजीली मोहनी माया उसका सत् डिगाने के लिये उसके आगे अड़ी है। वह अपने संबल को तोलने लगता है। प्रथम अपनें आत्मा को सम्बोधन करता हुआ वह कहता है—मेरे आत्मन्! तू (चित् असि) चित् है, चेतन है, ज्ञानवान् है। तुझमें चेतना है। यह अचेतन जड़ माया और मायाजन्य ये विघ्नबाधायें तेरा क्या साम्मुख्य करेंगी। अचेतन की क्या मजाल कि चेतन को परास्त कर सके। तेरी चेतना के सामनें माया की मोहकतायें और विघ्नबाधायें टिक नहीं सकतीं।

माया के प्रबल आवेगों और तज्जन्य विघ्नबाधाओं के पर्वतों से टकराता हुआ देवयाजक

अब अपनी काया को सम्बोधन करता है—

१) काये ! तू (मना असि) मनवाली है। तुझमें वह जीता जागता मन निहित है, जो तीव्रगामी और ज्योतियों की ज्योति है, जिसकी सहायता से साधक जन दिव्य कर्मों का अनुष्ठान करते हैं और धीर जन जीवन-संग्रामों में विजय सम्पादन करते हैं।

२) मेरी देह ! तू (धीः असि) धारणावती है। तेरे पास वह ध्रुव धारणा है, जिसके बोध प्रबोध से अखिल दुरितों का निवारण होता है।

३) मेरी देह ! तू (दक्षिणा असि) दक्षता-निधि है। जीवित मन से युक्त और ध्रुव धारणा से सुयुक्त होकर तू अक्षय दक्षता की साक्षात् निधि है। तेरी दक्षता से सकल दुर्भूत नितान्त पराभूत होजाते हैं।

४) मेरी जीवनि ! तू (क्षत्रिया असि) क्षत्रिया है। सुमन, सुधारणा और दक्षता से सम्पन्न होकर तू समस्त क्षतियों का क्षय करके क्षत्र का, धर्मक्षत्र का, आत्मक्षत्र का, आत्मराज्य का आधार और आश्रय है।

५) मेरी जीवनि ! तू (यज्ञिया असि) यज्ञिया है, सुपूज्या है, सम्पूज्या है। सुमन, सुधारणा, सुदक्षता और सुक्षत्र से सुनिष्पन्न होकर तू अखिल विघ्नों का निवारण करती है और देवयजनों की याज्ञिका बन जाती है।

६) मेरी जीवनि ! तू (अदितिः असि) अदीना है। सुमन, सुधारणा, सुदक्षता, सुक्षत्र और यज्ञीयता से युक्त होकर तू अखिल दीनताओं से मुक्त होजाती है।

७) मेरी तनु ! तू (उभयतः शीर्ष्णी) दोनों ओर शिरवाली है। सुमन, सुधारणा, सुदक्षता, सुक्षत्र, यज्ञीयता और अदीनता से सुसज्ज होकर तू उभय-शिरा होजाती है, लोक और परलोक दोनों ओर शिरए [संघर्ष] करनेवाली बन जाती है, उभय-योधिनी बनकर तू उभयतः युद्ध करती है।

आत्म-चेतना और जीवन-सम्पत्ति से सम्पन्न होकर देवयजन के मार्ग की बाधाओं का बाधन करता हुआ देवयाजक अन्त तक पृथिवी के दिव्यीकरण की साधना करता रहा। वह जीते जी सुप्राची रहा और सुप्रतीची बनकर उसने महा प्रयाण किया। प्राची [पूर्व दिशा] सूर्य के उदय की दिशा है और प्रतीची [पश्चिम दिशा] सूर्य के अस्त की दिशा है। प्राची नाम उदयन अथवा प्रादुर्भवन का है और प्रतीची नाम अस्त अथवा अदर्शन [अदृश्य होने] का है। सूर्य के समान उदित रहते हुए देवयाजक ने पृथिवी पर देवयजन किया और लोक परलोक की विजय सम्पादन करके वह सूर्य के समान ब्रह्मलोक में अस्त [विलीन] हुआ।

उस आदर्श देवयाजक के आदर्शों से प्रस्फुरित होकर अन्य देवयाजक अपनी अपनी जीवनी को सम्बोधन करने लगते हैं—जीवनि ! (सा) वह तू (नः) हमारे लिये (सु-प्राची सु-प्रतीची एधि) सुप्राची और सुप्रतीची हो। हम भी यावज्जीवन समुदित रहते हुए निरन्तर देवयजन करते रहें और अन्त में आत्मना ब्रह्मलोक में अस्त [प्रविष्ट] होजायें।

आदर्श देवयाजक के आदर्शों से प्रभावित होकर प्रत्येक देवयाजक अपनी जीवनी को लक्ष्य करके कह रहा है—मेरी प्यारी तनु ! (इन्द्राय अध्यक्षाय) इन्द्र अध्यक्ष के लिये (मित्रः) प्राण (त्वा) तुझे (पदि) साधना में (बध्नीतां) बांधे

रहे और (पूषा) मन (त्वा) तुझे (अध्वनः) पथ से (पातु) बचाये।

इन्द्रियों का स्वामी होने से आत्मा की इन्द्र संज्ञा है और देह का अधि-अक्ष होने से वह अध्यक्ष है।

प्राणो मित्रः। प्राण मित्र है। प्राण जीवन का परम मित्र है। प्राण मित्रवत् जीवनी को जीवन से बांधे रहता है।

पद गतौ। पदि=पद्यते प्राप्नोति येन साधनेन तस्मिन्। जिस साधना से साधा या प्राप्त किया जाता है, उसे पद् कहते हैं। इस प्रकार यहां पद् का अर्थ है साधना और पदि का अर्थ है साधना में।

एष वै मनः पूषा। यह मन निश्चय ही पूषा है, जीवनी का पोषक है। पुष्ट मन जीवनी का पोषक होता है, अपुष्ट अपोषक। मन के पुष्ट होने पर कृश काया भी पराक्रमशालिनी होजाती है।

प्राण साधना का प्रतीक है और मन प्रेरणा का। निर्विश्राम, निर्यंश, निर्विषय और निर्विकार रहता हुआ प्राण जीवनी की साधना करता है और मन देहरथ का प्रेरण अथवा संचालन करता है। देवयाजकों ने कितनी सुन्दर मनोकामना की है—जीवनि! प्राण तुझे साधना में बांधे रहे। तू प्राणवत् निर्विश्राम, निर्यंश, निर्विषय और निर्विकार रहती हुई देवयजन की साधना में रत निरत रहे और मन तुझे पथ से बचाये। शिव-संकल्प से सुपुष्ट रहता हुआ तेरा मन तेरा पोषण करता रहे और तुझे पथभ्रष्टता से बचाता रहे, पथ की भूलभुलैयों से तेरी रक्षा करे"।

चित् है तू,
और तू मनवाली ध्रुव धारणावाली,
दक्षिणा क्षत्रिया यज्ञिया अदिति उभयतः शिरवाली।
सुप्राची सुप्रतीची हो तू हम सब ही के लिये,
प्राण तुझे बांधे पद् में,
मन पथ से रक्षा करे,
अध्यक्ष इन्द्र के हेतु॥

**अनु त्वा माता मन्यतामनु पितानु भ्राता सगर्भ्योऽनु सखा सयूथ्यः।**
**सा देवि देवमच्छेहीन्द्राय सोमं रुद्रस्त्वावर्त्तयतु स्वस्ति सोमसखा पुनरेहि॥**
(य० ४।२०)

अनु त्वा माता मन्यतां अनु पिता अनु भ्राता स-गर्भ्यः अनु सखा स-यूथ्यः।
सा देवि देवं अच्छ इहि इन्द्राय सोमं रुद्रः त्वा आ वर्त्तयतु स्वस्ति सोम-सखा पुनः आ-इहि॥

स्वतनू-सम्बोधन को जारी रखते हुए देवयाजक कहे चला जा रहा है—

१) (देवि) दिव्यताओं से द्योतित मेरी जीवनि! (माता त्वा अनु मन्यतां) माता तुझे अनुमाने, माता तेरा अनुज्ञान करे, माता तुझपर अभिमान करे, माता तुझपर गर्व अनुभव करे।

देवयाजक का जीवन वह जीवन हो, देवयाजक अपने को वह दिव्य सन्तान सिद्ध करे, कि उसकी माता उससे गौरवान्वित होजाये।

२) (देवि) मेरी दिव्य तनु! (पिता त्वा अनु मन्यतां) पिता तुझे अनुमाने, पिता तुझपर गर्व करे, तू पिता का अभिमान हो।

देवयाजक की जीवनी वह जीवनी हो कि उसका पिता उससे गौरवान्वित होजाये।

३) (देवि) मेरी दिव्य जीवनि! (स-गर्भ्यः भ्राता त्वा अनु मन्यतां) सहोदर भाई तुझे अनुमाने, तेरा मान करे, तुझपर गर्व करे।

देवयाजक का जीवन वह जीवन हो कि सहोदर भाई बहिन उसका मान और उसपर गर्व करें।

४) (देवि) मेरी दिव्य जीवनि! (स-यूथ्यः सखा त्वा अनु मन्यतां) स-यूथ्य सखा तुझे अनुमाने, सखा-समूह के प्रत्येक व्यक्ति के हृदय में तेरे प्रति अनुमान्यता हो।

५) (देवि) मेरी दिव्य जीवनि! (सा) वह तू (इन्द्राय) इन्द्रियों के स्वामी आत्मा के लिये, आत्मसंबल के लिये (देवं सोमं) दिव्य सोम को (अच्छ) अच्छे प्रकार (इहि) प्राप्त रह।

यह देव सोम वही विश्वनायक विश्व-संचालक वैश्वानराग्नि परमात्म देव है, जिसकी व्याख्या मन्त्र १६ में की जा चुकी है। देवयाजक की दिव्य जीवनी दिव्य आत्मसंबल से युक्त रहनी चाहिये। एतदर्थ उसे देव सोम से सदा सम्यक् सुयुक्त रहते हुए आत्मना दिव्य सोम का, भक्तिरूपी दिव्यामृत का, पान करते रहना चाहिये।

६) (देवि) मेरी दिव्य जीवनि! (रुद्रः त्वा आ-वर्त्तयतु) रुद्र तुझे प्रेरित करे, दुःखविनाशक तुझे प्रेरित करता रहे।

रुत् दुःखं, तस्य द्रावयिता रुद्रः। रुत् नाम है दुःख का। दुःखों का द्रावयिता अथवा नाशक होने से देव सोम ही रुद्र है। अन्तः बाह्य समस्त दुःखों का सर्वातिशय निवारक होने से परमात्मा का नाम रुद्र है। देवयाजक का जीवन रुद्र-प्रेरित रहेगा, तो ही वह सब दुःखों और विघ्नबाधाओं को पार करता हुआ अन्त तक पृथिवी के दिव्यीकरण की साध में सन्तत निरत रह सकेगा।

मन्त्रान्त में देवयाजक अपने को सोम-सखा कहता हुआ आत्मसम्बोधन करता है—(सोम-सखा) सोम का सखा_ तू (स्वस्ति) समंगल, कुशलपूर्वक (पुनः) पुनः पुनः [देव सोम को, देव रुद्र को] (आ-इहि) प्राप्त हो, प्राप्त रह।

सब दिव्यताओं का सर्वातिशय दिव्य स्रोत तो वह दुःखहारी सुखधाम देव सोम ही है। सर्वात्मना, सर्वभावेन, देव सोम के भक्तिरूपी सोम का पान करते रहने से ही देवयाजक के जीवन में दैवी दिव्यता का सतत संचार होता रहेगा। भावना और योगसाधना द्वारा प्रभु से अनवरत संयुक्त रहना ही उसको पुनः पुनः समंगल प्राप्त रहना है।

माता अनुमाने तुझे
तुझे अनुमाने पिता,
सगर्भ्य भ्राता अनुमाने तुझे,
तुझे अनुमाने सयूथ्य सखा।
देवि! वह तू प्राप्त रह सम्यक् देव सोम को,
प्रेरित करता रहे तुझे दुःखहारी रुद्र देव,
सोमसखा तू सन्तत रह प्राप्त रुद्र सोम को।

सूक्ति—अनु त्वा माता मन्यताम्।
माता तुझे अनुमाने।
रुद्रस्त्वावर्त्तयतु॥
दुःखहारी भगवान् तुझे प्रेरित करे॥

**वस्व्यस्यदितिरस्यादित्यासि रुद्रासि चन्द्रासि।**
**बृहस्पतिष्ट्वा सुम्ने रम्णातु रुद्रो वसुभिराचके॥** (य० ४।२१)

वस्वी असि अदितिः असि आदित्या असि रुद्रा असि चन्द्रा असि।
बृहस्पतिः त्वा सु-म्ने रम्णातु रुद्रः वसुभिः आ-चके॥

स्वजीवनी-सम्बोधन को जारी रखते हुए देवयाजक कह रहा है—

१) मेरी तनु! तू (वस्वी असि) वस्वी है।
वस्वी=वसु+ई=वसु द्वारा संचालित। रश्मि,

रात्रि, धन और प्राण—ये प्रसिद्ध अर्थ हैं वसु शब्द के। वस निवासे और ई गतौ, इन दो धातुओं से वस्वी शब्द की सिद्धि होती है। जीवन के निवास, वास या अस्तित्व का साधन होने से प्राण वसु है, धन वसु है। प्राण जीवन का धन है। प्राणी का प्राण उसके जीवन का मूलधन है। प्राण के बिना प्राणी एक क्षण भी जीवित नहीं रह सकता है। प्राणी में जब तक प्राण निवास करता है, तब तक ही वह सब प्रकार के धनैश्वर्यों का सम्पादन करता है। तत्त्ववेत्ता देवयाजक तभी तो कह रहा है—मेरी जीवनि! तू प्राणरूपी रश्मि अथवा रस्सी से गतित-संचालित रथरी है। प्राणरश्मि से ही तू प्रकाशरही है। प्राण की गति रुकते ही तू अन्धकारमयी रात्रि होजाती है। प्राण से संचालित रहती हुई ही तू सकल धनैश्वर्यों का सम्पादन करती है। प्राण-सूत्र से तेरी गति है। प्राण के रहते रहते तू दिव्य व्रतों और कर्मों की साधना करले। तेरा एक-एक प्राण, एक-एक श्वास अमूल्य निधि है। तू अपने प्राण-प्राण का, श्वास-श्वास का सदुपयोग कर।

२) मेरी जीवनि! तू (अदितिः असि) अदिति है।

दिति का अर्थ है दीना। अदिति का अर्थ है अदीना। दिति का दूसरा अर्थ है खण्ड्य, खण्ड खण्ड होनेवाली। अदिति का दूसरा अर्थ है अखण्ड्या, खण्ड खण्ड न होने वाली। दिति के पुत्र दैत्य कहलाते हैं। अदिति के पुत्र आदित्य कहलाते हैं। देवयाजक कह रहा है—मेरी जीवनि! जहां एक ओर तू इतनी दीन है कि प्राण के एक झटके में खण्ड खण्ड होजाये, वहां दूसरी ओर तू इतनी सुदृढ़ और अदीन भी है कि अपने संबल से तू यथेच्छ जीवित रहती हुई लौकिक और पारलौकिक विजय सम्पादन कर दिखाये।

३) मेरी जीवनि। तू (आदित्या असि) अदिति की पुत्री है, दृढ़ता और अदीनता की पुतली है।

जीवेम शरदः शतं, भूयश्च शरदः शतात्। हम सौ वर्ष जीयें, सौ वर्ष से भी अधिक जीयें। किस प्रकार जीयें? पश्येम शरदः शतं, शृणुयाम शरदः शतं, प्रब्रवाम शरदः शतं, अदीनाः स्याम शरदः शतम्। सौ वर्ष से भी अधिक हम जीयें, देखते हुए, सुनते हुए, बोलते हुए, अदीन रहते हुए। समस्त इन्द्रियों का यावदायुष्य सर्वथा और सर्वतः स्वस्थ, सुन्दर और सक्षम रहना ही अदीनता है। मानव जीवनी एक ऐसी जीवनी है कि यदि जीवनविज्ञान और मनोविज्ञान के आश्रय से साधनोपाय किया जाये तो मनुष्य अन्तिम श्वास तक अदीन रह सकता है। इसी भावना से देवयाजक ने अपनी तनू को अदिति की पुत्री, दृढ़ता अदीनता की पुतली, कहा है।

४) मेरी जीवनि! तू (रुद्रा असि) रुद्रा है, दुःख-विनाशिका है। जहां शरीर सुख का आगार और विष्णु का मन्दिर है, वहां यह व्याधि-मन्दिर भी है, दुःख और क्लेश का केन्द्र भी है। मानव की जीवनी में इतनी संजीवनी शक्ति अन्तर्निहित है कि उससे सकल दुःखों, दुरितों, आधियों और व्याधियों का निराकरण भी किया जा सकता है। देवयाजक के लिये यह नितान्त आवश्यक है कि वह अपनी जीवनी को दुखःनिवारण की क्षमता से सक्षम रखे। इसी भाव से उसने अपनी जीवनी को रुद्रा कहा है। संसार के दुःखों के निवारण की क्षमता भी देवयाजक के जीवन में होती ही है।

५) मेरी जीवनि! तू (चन्द्रा असि) आह्लादिका है, आह्लादकारिणी है। चिदि आह्लादे। आह्लादयित्री होने से मानव-जीवनी चन्द्रा है। देवयाजक की जीवनी तो नीरोग, शुद्ध, पवित्र तथा दिव्यताओं से सुदिव्य है। अतः उसकी जीवनी तो स्व पर सबके लिये आह्लाददायिनी और आह्लादकारिणी है।

स्वजीवनी-सम्बोधन के उपरान्त देवयाजक अपनी जीवनी का आत्मकामनायुक्त शंसन करता हुआ उसे आशीर्वाद देता है--मेरी जीवनि! (बृहस्पतिः त्वा सु-म्ने रम्णातु) बृहस्पति तुझे सु-म्न में रमाये।

सुम्न=सु-म्न, सुमन, सुप्रसन्नता। ब्रह्म वै बृहस्पतिः। ब्रह्म निश्चय से बृहस्पति है। बृहस्पति=बृहत्+पति। बृहस्पति का अर्थ है महान् पति, महत् रक्षक। अखिल ब्रह्माण्ड का महत् स्वामी और रक्षक यह वह ब्रह्म है।

यहां स्वयं देवयाजक का अपना आत्मा अपनी जीवनी के लिये प्रभु से शुभ कामना करता है— मेरी जीवनि! महत् ब्रह्म तुझे निरन्तर सुप्रसन्नता में रमणीय बनाये। देवयाजक के दिव्य जीवन में सुप्रसन्नता और रमणीयता होनी ही चाहिये। प्रसन्नता से अनथक सतत साधना होती है, तो रमणीयता से सन्तत जनाकर्षण होता है। सतत साधना और सन्तत जनाकर्षण—ये दो अमोघ साधन हैं पृथिवी के दिव्यीकरण के, देवयजन के।

और अब आत्मप्रसादयुक्त आत्म-सन्तोष के साथ अपनी आदर्श जीवनी को प्यार करता हुआ देवयाजक कहता है—(रुद्रः) दुःख-द्रावयिता मैं [तुझे] (वसुभिः) वसुओं से (आ-चके) तृप्त करता हूं।

देवयाजक ने यहां अपने आपको, अपने आत्मा को, रुद्र [दुःख-विनाशक] कहा है। आत्मा निस्सन्देह दुःखविनाशक है। दुःखों, व्याधियों और आपत्तियों को नष्ट करने की शक्ति मूलतः आत्मा की ही है। आत्मा की रुद्रता [दुःखविनाशक शक्ति] से ही जीवनी रुद्रा [दुःखविनाशिनी] बनी है। देवयाजक की परिष्कृत, शुद्ध संसिद्ध, कमनीय जीवनी निस्सन्देह प्यार की वस्तु है। देवयाजक को चाहिये ही कि वह अपनी प्यारी जीवनी को वसुओं से, जीवनधनों से, जीवन-सम्पत्तियों से, सुष्ठु सम्प्राप्तियों से, सदा तृप्त, परिपुष्ट और परिपूर्ण रखे, ताकि वह दीर्घजीवी और सक्षम रहकर पृथिवी का दिव्यीकरण करता रहे।

प्राणमयी तू और अदीना,
है अदीनता की तू पुतली,
दुःखविनाशयित्री आह्लादा।
बृहस्पति तुझको प्रसन्नता में रमणाये,
मैं हूं रुद्र वसुओं से तुझे तृप्त करता हूं॥
सूक्ति—बृहस्पतिष्ट्वा सुम्ने रम्णातु॥
बृहस्पति तुझको प्रसन्नता में रमणाये॥

**अदित्यास्त्वा मूर्द्धन्नाजिघर्मि देवयजने पृथिव्या इडायास्पदमसि घृतवत् स्वाहा।**
**अस्मे रमस्वास्मे ते बन्धुस्त्वे रायो मे रायो मा वयं रायस्पोषेण**
**वियौष्म तोतो रायः॥** (य० ४।२२)

अदित्याः त्वा मूर्द्धन् आ-जिघर्मि देव-यजने पृथिव्याः इडायाः पदं असि घृतवत् स्वाहा।
अस्मे रमस्व अस्मे ते बन्धुः त्वे रायः मे रायः मा वयं रायः पोषेण वि-यौष्म तोतः रायः॥

पूर्व मन्त्र में स्वजीवनी को सराहते हुए देवयाजक ने कहा था—बृहस्पति तुझे प्रसन्नता में रमणाये। यहां देवयाजक स्वयं बृहस्पति से आत्म-निवेदन करता है—

१) बृहस्पते ! मैं (त्वा) तुझे (अदित्याः मूर्द्धन्) अदिति [अदीनता] के मूर्द्धा पर, (पृथिव्याः देव-यजने) पृथिवी के देवयजन में (आ-जिघर्मि) पूर्णतया घर्मता हूं।

अदिति का प्रयोग यहां अदीनता के अर्थ-में हुआ है। मूर्धा का सामान्य अर्थ है मस्तिष्क, शिर, शिरोमणि। यहां इस शब्द का प्रयोग सर्वोपरि सर्वोच्च शिखर के अर्थ में हुआ है। घृ क्षरणदीप्त्योः। क्षरण और दीप्ति के अर्थ में घृ धातु का प्रयोग होता है। आ-जिघर्मि का शब्दार्थ हुआ—मैं तुझे पूर्णतया क्षरता-प्रेरता और दीप्त-प्रज्वलित करता हूं। क्षरण से दीप्ति अथवा प्रेरणा से प्रज्वलन होता है।

"बृहस्पते ! पृथिवी के देवयजन में, मैं तुझे अदीनता के शिखर पर, प्रेरता और प्रदीप्त करता हूं", इस निवेदन में एक आध्यात्मिक गहनता संनिहित है। पवन के क्षरण से अग्नि का प्रदीपन होता है। अग्नि के प्रदीप्त हुए बिना यज्ञ का सम्पादन नहीं हो सकता। पृथिवी के देवयजन के लिये भी यह आवश्यक है कि देवयाजक आत्मक्षरण के द्वारा बृहस्पति को प्रदीप्त करे। बृहस्पति का प्रदीपन ही वह साधन है, जिससे देवयाजक के जीवन में अदीनता की स्थापना होती है। देवयजन के लिये देवयाजक को अदीनता के शिखर पर आसीन रहना चाहिये। अदीनता के शिखर पर आसीन रहने के लिये उसे आत्मप्रेरणा द्वारा बृहस्पति को अपने जीवन में अनवरत प्रदीप्त रखना चाहिये।

२) बृहस्पते ! तू (इडायाः पदं असि) इडा का पद है।

ईड स्तुतौ धातु से इडा की सिद्धि होती है। इडा नाम वाणी का है, उस वाणी का, जो सदा सर्वदा बृहस्पति का ईडन [स्तवन] किया करती है। साधक की वाणी साधारण नहीं है। उसकी वाणी वह दिव्य वाणी है, जिसका पद बृहस्पति है। "बृहस्पति" वह पद है, जिसे देवयाजक की स्तवनशील दिव्य वाणी सन्तत उच्चारती और गाती रहती है। सचमुच बृहस्पति स्तवनशील वाणी का दिव्य पद अथवा दिव्य संगीत है।

इडा नाम उस स्तुत्य वाणी का भी है, जो संसार को बृहस्पति का दिव्य सन्देश सुनाती है। देवयाजक की वाणी का प्रत्येक पद, उसकी वाणी से निकला एक-एक पद, जन-जन को बृहस्पति का दिव्य सन्देश दे रहा होता है।

वाणी की इस उभयतः साधना से जहां एक ओर पृथिवी का दिव्यीकरण हो रहा होता है, वहां दूसरी ओर स्वयं साधक के जीवन में बृहस्पति का प्रदीपन होता रहता है।

३) अपने आपमें बृहस्पत्यग्नि के पूर्ण प्रदीपन का सर्वोत्तम साधन है स्वाहा अथवा पूर्ण आत्मसमर्पण। स्वाहा=स्व+आ+हा। (स्व) स्व का, अपने आपका (आ) पूर्ण (हा) त्याग, समर्पण। कोयला जब अग्नि में स्वाहा अथवा पूर्णतया सुहुत या समर्पित होजाता है, तो उसमें सद्यः अग्नि प्रदीप्त होजाता है। इसी भाव से देवयाजक कह रहा है—बृहस्पते ! अपने आपमें तुझे प्रदीप्त रखने के लिये मैं तेरे "बृहस्पति" पद का गान करता हुआ तुझमें (घृतवत् स्वाहा) घृत के समान सुहुत होता हूं। जिस प्रकार घृत की आहुति से यज्ञवेदि में अग्नि प्रदीप्त होता है, वैसे ही मेरे आत्मसमर्पण से तू मुझमें प्रदीप्त रह।

४) हममें प्रदीप्त होकर, बृहस्पते ! तू (अस्मे रमस्व) हममें रमरण कर, हमारे लिये रमणीयता का सम्पादन करता रह, हम सब ही देवयाजकों के जीवन में प्रदीप्त होकर रमणीयता का संचार करता रह, ताकि सारी पृथिवी हमारे प्रति आकृष्ट होती चली जाये।

५) बृहस्पते ! (अस्मे ते बन्धुः) हममें तेरा बन्धु हो, हमारे प्रति तेरा बन्धुत्व रहे। बन्ध से बन्धु। आत्मस्नेह की रस्सी से जो बंधा हुआ हो, उसे बन्धु कहते हैं।

देवयाजक की कितनी सुन्दर प्रार्थना है यह– बृहस्पते ! हममें, हम सब देवयाजकों में, तेरा बन्धुत्व सदा बना रहे। सुस्नेह की रस्सी से तू हमारे प्रति सदा बंधा रह। तू हमारे प्रति सदा प्रीतिमान रह। हम तेरी प्रीति के पात्र रहें और तेरी प्रीति से हमारे जीवनों में तेरा प्रदीपन सदा होता रहे।

६) बृहस्पते ! अपने जीवन में तेरा प्रदीपन और तेरा बन्धुत्व मैं इसलिये चाहता हूं कि (मे) मेरे लिये (त्वे) तुझमें (रायः) आत्मैश्वर्य हैं, (रायः) समस्त आत्मैश्वर्य हैं, (तोतः रायः) भूयोभूयः आत्मैश्वर्य हैं।

भौतिक ऐश्वर्य सब अदिव्य ऐश्वर्य हैं। आत्मैश्वर्य सब दिव्य ऐश्वर्य हैं। दिव्य ऐश्वर्यों से ही पृथिवी का दिव्यीकरण होता है। अतः देवयाजक को दिव्य आत्मिक ऐश्वर्यों की अपेक्षा है। देवयाजक के जीवन में दिव्य ऐश्वर्यों अथवा आत्मैश्वर्यों का सम्पादन तब ही होगा, जब उसके जीवन में बृहस्पति का प्रदीपन और बन्धुत्व होगा।

७) बृहस्पते ! एक मैं ही नहीं, (वयं) हम सब देवयाजक (रायः पोषेण) आत्मैश्वर्य के पोष [पुष्टि] से (मा वि-यौष्म) वियुक्त [वञ्चित] न रहें। हम सब ही देवयाजक देवयजन के लिये दिव्य आत्मैश्वर्यों से युक्त रहें।

तुझे कररहा हूं प्रदीप्त मैं,
पृथिवी के इस देवयजन में,
अदिति के सर्वोच्च शिखर पर,
मेरी इडा का तू वह पद है,
जिसको गाता हुआ सुहुत घृतवत् होजाऊं।
हममें रम, हममें बन्धुत्व तेरा हो,
मेरे लिये तुझी में सब आत्मैश्वर्य निहित हैं,
सभी आत्मैश्वर्य अधिकाधिक ऐश्वर्य,
वञ्चित हम न रहें आत्मैश्वर्य-पुष्टि से॥

सूक्ति—इडायास्पदमसि॥
तू स्तवनशील वाणी का संगीत है॥
तू सन्देशवाहिका वाणी का सन्देश है॥
अस्मे रमस्व॥
हममें रम॥
अस्मे ते बन्धुः॥
हममें तेरा बन्धुत्व हो॥

समख्ये देव्या धिया सं दक्षिणयोरुचक्षसा।
मा म आयुः प्रमोषीर्मो अहं तव वीरं विदेय तव देवि सन्दृशि॥ (य० ४।२३)
सं अख्ये देव्या धिया सं दक्षिणया उरु-चक्षसा।
मा मे आयुः प्र-मोषीः मो अहं तव वीरं विदेय तव देवि सं-दृशि॥

पूर्व मन्त्रों में सम्बोधित बृहस्पति को इस मन्त्र में देवी नाम से पुकारा गया है। बृहस्पति शब्द पुंल्लिग है और देवी शब्द स्त्रीलिंग। परमात्मा अलिङ्ग है। उसका कोई लिङ्ग नहीं। फिर भी वेद में परमात्मा के नाम उभय लिङ्गों में आए हैं। वेद में उसे कहीं पिता के नाम से पुकारा है तो

कहीं माता के नाम से, कहीं उसे कल्याणी अजरा अमृता कहा है तो कहीं कल्याणकारी अजर अमर कहा है, कहीं उसे देव कहा है तो कहीं देवी। देव शब्द के जितने अर्थ हैं, उतने ही देवी शब्द के हैं। दिव्यताओं से द्योतित होने और द्योतित करने से परमात्मा देव है, देवी है।

चक्षि [ख्याञ्] व्यक्तायां वाचि, दर्शने ऽपि। ख्याञ धातु के दो अर्थ हैं—स्पष्ट बोलना और देखना। देखने और बोलने का परस्पर सम्बन्ध है। प्रथम दर्शन, पश्चात् वदन, सत्योक्ति का यह नियम है। स्पष्ट साक्षात्कार करके जो बोला जाता है, उस बोलने में ही सत्य निहित होता है। बिना स्पष्ट देखे और बिना स्पष्ट साक्षात्कार किये बोलना अस्पष्ट अथवा असत्य भाषण है। मन्त्र में जो "सं-अख्ये" क्रिया का प्रयोग हुआ है, उसका अर्थ है—मैंने स्पष्ट देखा है और स्पष्ट कहा है अर्थात् मैंने साक्षात्कार करके कहा है, साक्षात् अनुभूति के बिना नहीं कहा है।

पूर्व मन्त्र में देवयाजक ने जो कहा है, "बृहस्पते! तुझमें आत्मैश्वर्य हैं, समस्त आत्मैश्वर्य हैं, भूयोभूयः आत्मैश्वर्य हैं", वह उसने यों ही नहीं कह दिया है, स्पष्ट साक्षात् अनुभूति के आधार पर कहा है। इसी भाव का द्योतन करने के लिये वह यहां कह रहा है—(देवि) दिव्यताओं की पुञ्ज दिव्य देवि! यह मैंने (देव्या धिया सं-अख्ये) दिव्य धारणा से देखा और कहा है। यह मैंने (दक्षिणया उरु-चक्षसा सं-अख्ये) दक्षिण विशाल-नेत्र से देखकर कहा है, अनुभूतिमय व्यापक-दृष्टि से साक्षात् करके कहा है।

और गदगद होकर वह विनय करने लगता है—देवि! (मे आयुः मा प्र-मोषीः) मेरे जीवन को मत खण्डित कर।

मुस खण्डने। मडि मण्डने। खण्डन और मण्डन परस्पर विरोधी अर्थवाले शब्द हैं। देवयाजक विनय कर रहा है—देवि! मेरे जीवन को खण्डित नहीं मण्डित रख। देवी के प्रति आत्मना घृतवत् सुहुत-समर्पित अथवा समुख रहते हुए आत्मैश्वर्यों से युक्त रहना जीवन का मण्डन है और उससे आत्मना वियुक्त या विमुख रहते हुए आत्मैश्वर्यों से शून्य रहना जीवन का खण्डन है।

यावदायुष्य मण्डित रहने की भावना से देवयाजक पुनः विनय करता है—देवि! (अहं तव वीरं मो विदेय) मैं तेरे वीर को प्राप्त न होऊं।

वि+ईरः=वीरः। वि=विपरीत। ईरः गति करनेवाला। वीर शब्द का प्रयोग यहां विपरीत गति, विपरीत गमन, विमुखता, वैमुख्य के अर्थ में हुआ है। पृथिवी का जो भाग सूर्य के अभिमुख गति कर रहा होता है, वह सूर्य के तेज और प्रकाश से मण्डित रहता है। पृथिवी का जो भाग सूर्य के विपरीत विमुख होकर गति कर रहा होता है, वह सूर्य के तेज और प्रकाश से खण्डित [वञ्चित] होरहा होता है। एवमेव यदि देवयाजक देवी से समुख रहता हुआ दिव्यीकरण की साधना करेगा, तो उसका जीवन देवी की दिव्यता से मण्डित रहेगा। यदि वह देवी से विमुख रहकर दिव्यीकरण की साधना करना चाहेगा तो उसका जीवन देवी की दिव्यता से सर्वथा खण्डित [वियुक्त] रहेगा। इस रहस्य को समझते हुए ही देवयाजक ने विनय की है, "देवि! मैं तेरी विमुखता को प्राप्त न होऊं। सदा तेरे समुख रहूं।"

देवी के प्रति अपनी समुखता की गहन भावना की विशेष अभिव्यक्ति करता हुआ

देवयाजक पुनः सविनय याचना करता है—
देवि ! मैं सतत सन्तत निरन्तर (तव सं-दृशि) तेरे संदर्शन में, तेरी संदृष्टि में [रहूं], तुझसे मुख समुख रहूं।

दिव्य धी से देखकर मैंने कहा है,
दक्ष उरु-दृष्टि से होकर युक्त यह मैंने कहा है।
खण्डित मत कर जीवन मेरा,
प्राप्त न तेरी करूं विमुखता,
देवि ! स्थित रहूं मैं सन्तत तेरे संदर्शन में ॥
सूक्ति—मो अहं तव वीरं विदेय ॥
मैं तेरा वैमुख्य प्राप्त न करूं ॥

**एष ते गायत्रो भाग इति मे सोमाय ब्रूतादेष ते त्रैष्टुभो भाग इति मे सोमाय ब्रूतादेष ते जागतो भाग इति मे सोमाय ब्रूताच्छन्दोनामानां साम्राज्यं गच्छेति मे सोमाय ब्रूतादास्माको ऽसि शुक्रस्ते ग्रह्यो विचितस्त्वा विचिन्वन्तु ॥** (य० ४।२४)

एषः ते गायत्रः भागः इति मे सोमाय ब्रूतात्। एष ते त्रै-स्तुभः भागः इति मे सोमाय ब्रूतात्। एषः ते जागतः भागः इति मे सोमाय ब्रूतात्। छन्दःनामानां सां-राज्यं गच्छ इति मे सोमाय ब्रूतात्। आस्माकः असि। शुक्रः ते ग्रह्यः। वि-चितः त्वा वि-चिन्वन्तु ॥

गायत्रोऽयं भूलोकः। यह भूलोक गायत्र है। प्राणो वै गायत्रम्। प्राण निस्सन्देह गायत्र है। प्राणरक्षक और प्राणियों की रक्षा करनेवाला होने से प्राण गायत्र है। प्राण का प्रयोग प्राणधारियों अथवा प्राणियों के लिये भी होता है।

सोम्यता, सौम्यता, प्रियता, मोहकता, आह्लादकता जिसमें हो, उसे सोम कहते हैं।

त्रैष्टुभ=त्रै-स्तुभ, त्रै-स्तुप्, त्रै-स्तोत्र, त्रै-स्तवन। स्तवन तीन प्रकार का होता है—मन से, वचन से, कर्म से। तीन प्रकार के स्तवन के समन्वय का नाम त्रैष्टुभ है।

जगत् से जागत। जो सदा सर्वदा सतत सन्तत निरन्तर अनवरत गति करता रहता है, उसे जगत् कहते हैं। जगत् और जगत् में जो कुछ है, वह सब जागत है। ब्रह्म कूटस्थ है, ब्रह्माण्ड जागत है। ब्रह्माण्ड तथा ब्रह्माण्ड में जो कुछ है, वह सब जागत है।

छन्द का अर्थ है इच्छा, अभिलाषा, कामना, भावना। इच्छा जब तीव्रतर होजाती है तो वह अभिलाषा बन जाती है। अभिलाषा जब तीव्रतर होजाती है तो वह कामना का रूप धारण कर लेती है। कामना तीव्रतर होकर भावना बन जाती है। भावना भाव की जननी है। भावनाओं से भावित होने के कारण ही कवितामय प्रवाहों का नाम छन्द है। नाम का अर्थ है नमन-सामर्थ्य, नमाने की क्षमता। छन्दःनाम का अर्थ है भावनाओं को नमाने की सामर्थ्य। भावनायें जिसे नमस्कार करें, भावनायें जिसे नमनीयता के साथ प्राप्त हों, उस अवस्था का नाम छन्दःनामानाम् है।

भाग नाम सेवनीय अंश का है। जिसका जितना सेवनीय अंश होता है, वही उसका भाग है।

"देवि ! स्थिर रहूं मैं सन्तत तेरे संदर्शन में", यह कहते कहते देवयाजक भावनातिरेक से भावित

प्रभावित होकर उस परमा देवी के साथ आत्मना बातें करने लगता है—

१) परमेश्वरि देवि ! मैं तेरा सोम हूं। मैं तेरा सोम्य देवयाजक हूं। मैं तेरा सौम्य शिशु हूं। मेरी इच्छा है कि इस भूलोक को और इस भूलोक के सभी प्राणियों को दिव्यता से पूरदूं। (एषः गायत्रः) यह गायत्र, इस भूलोक और इस भूलोक के प्राणियों के दिव्यीकरण का अनुष्ठान (ते भागः) तेरा सेवनीय अंश है, निश्चय ही तेरे द्वारा सम्पन्न होगा, (इति मे सोमाय ब्रूतात्) ऐसा मुझ सोम के प्रति कहदे। कहदे, देवि, साक्षात् मुख समुख होकर अपने इस मुझ सोम्य वत्स से कहदे कि, "तेरे द्वारा यह गायत्र अनुष्ठान सिद्ध होगा और अवश्य होगा"।

२) अनुष्ठात्रि देवि ! सचमुच तू अतिशय स्तुत्य है। तेरे स्तवन से तेरे स्तोता में अनुष्ठान-क्षमता का संचार होता है। तू स्वयं भी तो इस ब्रह्माण्डरूपी दिव्य यज्ञ का अनुष्ठान कर रही है। मैं चाहता हूं कि मनसा, वाचा, कर्मणा-तीनों प्रकार से मैं तेरी सर्वधारक क्षमता का निरन्तर स्तवन किया करूं। देवि ! (एषः त्रैस्तुभः ते भागः) यह त्रैस्तुभ तेरा भाग हो—(इति मे सोमाय ब्रूतात्) ऐसा मुझ सोम के प्रति कहदे। देवि ! मुझे आशीर्वाद दे कि मैं मन से तेरी स्तुत्य मानता करूं, वाणी से तेरा स्तुतिमय वर्णन करूं, कर्म से तेरी स्तुतिपूर्ण साधना करूं। त्रैस्तुभ के आश्रय से मैं इस पृथिवी के दिव्यीकरण के यज्ञानुष्ठान में सफल होजाऊं।

३) जगद्धात्रि देवि ! मेरी अभिलाषा है कि तेरा त्रै-स्तवन करता हुआ मैं न केवल इस भूलोक को अपि तु सम्पूर्ण जगत् को तेरी दिव्य दिव्यता से ओत प्रोत करदूं। अतः अपने इस (मे सोमाय इति ब्रूतात्) मुझ सोम के प्रति ऐसा कहदे—(एषः जागतः ते भागः) यह जागत तेरा भाग है, इस जगत् के दिव्यीकरण की साधना तेरे हिस्से में आई है।

४) देवि कामदुहे ! मेरी ये कामनायें हैं। अपने इस (मे सोमाय इति ब्रूतात्) मुझ सोम के प्रति ऐसा कहदे—(छन्दःनामानां सां-राज्यं गच्छ) तू भावनाओं की नमनीयताओं के साम्राज्य को प्राप्त हो, तू अपनी कामनाओं के नामों के साम्राज्य को प्राप्त हो, गायत्र त्रै-स्तुभ जागत नामों से व्यक्त की गयी तेरी भावनाओं का साम्राज्य फले और फूले, सम्राट्वत् तेरी भावनायें नामशः फलवती हों।

५) देवि ! तू केवल मेरी ही नहीं है, (आस्माकः असि) हमारी अपनी है, हम सबकी है, हम सब देवयाजकों की है। तू हमारी है, हम तेरे हैं। तब दिव्यीकरण सम्बन्धी अपनी भावनाओं और कामनाओं की सिद्धि के लिये हम तेरे सिवाय और किससे प्रार्थना करें। हमारी आत्मनिजता तुझी में है।

६) देवि ! इस दिव्यीकरण की साध के लिये जिस निर्मलता की अपेक्षा है, वह केवल तुझमें ही है। निस्सन्देह इस साध के लिये (ते शुक्रः) तेरी निर्मलता, तेरी पवित्रता (ग्रह्यः) ग्रहणीय है। तेरी स्तुति और प्रार्थना द्वारा हम अपने जीवनों में सदा तेरी निर्मलता को धारण करते रहें।

७) दिव्य देवि ! तुझे अपनाना और तेरी निर्मलता ग्रहण करना प्रत्येक का भाग नहीं है। यह तो भाग्यशालियों के भाग में ही आता है। सुगन्धि के

प्रेमी ही सुगन्धित पुष्पों का चयन करते हैं। दिव्यताकामी दिव्यीकरण के अभिलाषी देवयाजक ही तेरा चयन करते हैं। ये माया के घिनौनें भोगों के मतवाले तेरा चयन करना क्या जानें। तेरे (वि-चित:) विचयन करनेवाले (त्वा वि-चिन्वन्तु) तुझे विचयनें, तेरा विचयन करें। देवयाजक ही तेरे विचयन करनेवाले हैं। वे ही तेरा विचयन करें और वे केवल तेरा ही विचयन करें, क्योंकि दिव्यीकरण के लिये जिस पावनता की आवश्यकता है, वह तुझमें ही है, केवल तुझमें ही है।

यह गायत्र भाग है तेरा,
ऐसा कह मुझ सोम के प्रति।
यह त्रै-स्तुभ भाग है तेरा,
ऐसा कह मुझ सोम के प्रति।
यह जागत भाग है तेरा,
ऐसा कह मुझ सोम के प्रति।
पा साम्राज्य छन्दनामों का,
ऐसा कह मुझ सोम के प्रति।
तू अपनी है हमारी अपनी,
ग्रहणीय है शुक्र तेरा ही।
तेरा विचयन करनेवाले,
चयन करें केवल तुझको ही॥
सूक्ति—शुक्रस्ते ग्रह्यः॥
तेरी पावनता ग्रहणीय है॥
विचितस्त्वा विचिन्वन्तु॥
चयन करनेवाले तुझे चयन करें॥

अभि त्यं देवं सवितारमोण्योः कविक्रतुमर्चामि सत्यसवं रत्नधामभि
प्रियं मतिं कविम्। ऊर्ध्वा यस्यामतिर्भा अदिद्युतत्सवीमनि
हिरण्यपाणिरमिमीत सुक्रतुः कृपा स्वः। प्रजाभ्यस्त्वा
प्रजास्त्वानुप्राणन्तु प्रजास्त्वमनुप्राणिहि॥
[सा० ४६४, अ० ७. १४. १-२] (य० ४।२५)

अभि त्यं देवं सवितारं ओण्योः कवि-क्रतुं अर्चामि सत्य-सवं
रत्न-धां अभि प्रियं मतिं कविम्। ऊर्ध्वा यस्य अमतिः भाः
अदिद्युतत् सवीमनि हिरण्य-पाणिः अमिमीत सु-क्रतुः कृपा
स्वः। प्रजाभ्यः त्वा प्रजाः त्वा अनु-प्राणन्तु प्रजाः त्वं अनु-प्राणिहि॥

साधक जिस बृहस्पति का देवी के नाम से स्तवन और चयन कर रहा था, उसी का अब देव नाम से अर्चन करता है—

१) मैं (अभि) अभितः (अभि) सर्वतः (अर्चामि) अर्चता हूं, (त्यं ओण्योः सवितारं देवं) उस द्यौ भू के प्रेरक देव को। मैं उस देव को अर्चता हूं, जो द्यौ और भू, उभय ऐश्वर्य का प्रेरक है।

जो कुछ दिव्य है, वह सब द्यौ है। जो कुछ भौतिक है, वह सब भू है। वेदों में द्यावापृथिवी [द्यौ और पृथिवी] का भी बहुत प्रयोग हुआ है। उन सब प्रयोगों में प्रायः द्यौ से तात्पर्य दिव्यता से है और पृथिवी से तात्पर्य पार्थिवता से है। जो कुछ दिव्य, दैवी अथवा ब्राह्म है, वह सब द्यौ है। जो कुछ पार्थिव है, वह सब पृथिवी है। ऐश्वर्य दो प्रकार के हैं, दिव्य और भौतिक, ब्राह्म और पार्थिव। दिव्य या ब्राह्म ऐश्वर्य आत्मा द्वारा सेवनीय हैं। भौतिक अथवा पार्थिव सब ऐश्वर्य शरीर द्वारा सेवनीय हैं। देवयाजक द्यौ और भू के सविता, दिव्य और भौतिक ऐश्वर्य के प्रेरक, देव को सर्वातिशय इसलिये अर्चता है कि पृथिवी के दिव्यीकरण के लिये उसे उभय ऐश्वर्यों की आवश्यकता है।

२) मैं (अभि अभि अर्चामि त्यं कवि-क्रतुं देवं) अभितः सर्वतः अर्चता हूं उस क्रान्त-कर्मा देव को। मैं उस देव को अर्चता हूं, जो क्रान्त-कर्मा है।

पृथिवी के दिव्यीकरण की साध एक क्रान्त कर्म है, जिसकी संसिद्धि के लिये उसे क्रान्त-कर्तृत्व की आवश्यकता है। क्रान्तकर्मा देव की अर्चना वह इसलिये कर रहा है कि उसे क्रान्त कर्तृत्व की प्राप्ति होजाये।

३) मैं (अभि अभि अर्चामि त्यं सत्य-सवं देवं) अभितः सर्वतः अर्चता हूं उस सत्य-प्रेरक देव को। मैं उस देव को अर्चता हूं, जो सत्य का प्रेरक है।

पृथिवी के दिव्यीकरण की साधना एक नितान्त सत्य साधना है, जिसकी संसिद्धि के लिये उसे प्रखर सत्य की आवश्यकता है। सत्यप्रेरक देव की अर्चना वह इस लिये कर रहा है कि उसे विशुद्ध सत्य की उपलब्धि होजाये।

४) मैं (अभि अभि अर्चामि त्यं रत्न-धां देवं) अभितः सर्वतः अर्चता हूं उस रत्न-धा देव को। मैं उस देव को अर्चता हूं, जो रत्नों का धारक है।

देवयाजक जिस साध की सिद्धि में लगा है, उसके लिये उसे रत्नों की, शोभनीयताओं की, रत्नीयताओं की, रमणीयताओं की आवश्यकता होगी। उन्हीं की प्राप्ति के लिये वह रत्नधा देव की अर्चना कर रहा है।

५) मैं (अभि अभि अर्चामि त्यं प्रियं देवं) अभितः सर्वतः अर्चता हूं उस प्रिय देव को। मैं उस देव को अर्चता हूं, जो मुझे प्रिय है, जिसमें प्रियता संनिहित है।

देवयाजक जिस प्रिय साध में निरत है, उसकी सार्थकता के लिये उसमें वह प्यारी प्रियता होनी चाहिये कि सारी पृथिवी पर उसे जन-जन का प्यार सम्प्राप्त हो। विश्वप्रिय बनने के लिये वह प्रिय देव की अर्चना कर रहा है।

६) मैं (अभि अभि अर्चामि त्यं मतिं देवं) अभितः सर्वतः अर्चता हूं उस मति देव को। मैं उस देव को अर्चता हूं, जो मति है।

देव की मति वह दिव्य मति है, देवयाजक की साध के लिये जिसकी परमावश्यकता है। देव की दिव्य मति की प्राप्ति के लिये वह मति देव की अर्चना कर रहा है।

७) मैं (अभि अभि अर्चामि त्यं कविं देवं) अभितः सर्वतः अर्चता हूं उस क्रान्त देव को। मैं उस देव को अर्चता हूं, जो क्रान्त है।

दिव्यीकरणयाग के सम्पादनार्थं देवयाजक को क्रान्त कान्ति की आवश्यकता है। क्रान्त कान्ति से वह जब युक्त होगा, तब ही वह दिव्यीकरण जैसी क्रान्त साधना की संसिद्धि कर सकेगा। एतदर्थ ही वह क्रान्त देव की अर्चना कर रहा है।

८) मैं (अभि अभि अर्चामि त्यं देवं) अभितः सर्वतः अर्चता हूं उस देव को, (यस्य अमतिः ऊर्ध्वा) जिसका रूप सर्वोच्च है, (यस्य भाः सवीमनि अदिद्युतत्) जिसकी छटा सृष्टि में छटकी हुई है। मैं उस देव को अर्चता हूं, जिसका सौन्दर्य सर्वोपरि है और जिसके सौन्दर्य की छटा से यह समष्टि सृष्टि द्योतित होरही है। उस देव के दिव्य रूप से रूपित होकर मैं इस पृथिवी को दिव्यता से सुरूपित करदूं।

९) (मैं अभि अभि अर्चामि त्यं देवं) अभितः सर्वतः अर्चता हूं उस देव को, जिस (हिरण्य-पाणिः सु-क्रतुः) दिव्य-हस्त सुकर्मा ने [समष्टि सृष्टि] (अमिमीत) निर्मित की है। वह विश्वनिर्माता ही दिव्यीकरण के मेरे भव्य भवन का निर्माण करायेगा।

१०) मैं (अभि अभि अर्चामि त्यं देवं) अभितः सर्वतः अर्चता हूं उस देव को (यस्य कृपा स्वः) जिसकी कृपा आनन्द है।

मुझ देवयाजक के लिये उस देव की कृपा ही परम आनन्द-दायिनी है। उसी की कृपा से वह आनन्दक्षण आयेगा, जब दिव्यीकरण की मेरी साध संसिद्ध होगी।

११) देव ! अपने इस मुझ सोम के प्रति कहदे कि (प्रजाः) प्रजायें (प्रजाभ्यः) प्रजाओं के [दिव्यीकरण के] लिये (त्वा) तुझे, (त्वा) निश्चय से तुझे (अनु-प्राणन्तु) अनुप्राणित करें और (त्वं) तू (प्रजाः) प्रजाओं को (अनु-प्राणिहि) अनुप्राणित कर।

अभितः सर्वतः अर्च रहा हूं मैं उस देव को,
जो है द्यौ भू का सम्प्रेरक क्रान्त कवि है और सत्य-सव,
धारक रत्नों का अति प्रिय दिव्य-मति कवि कान्त।
सर्वोपरि रूप है जिसका,
जिसकी भा से भास रहा है यह सारा संसार।
जिस सु-क्रतु दिव्य-हस्त ने,
किया है निर्मित यह सारा ब्रह्माण्ड,
है आनन्द-दायिनी जिसकी कृपा कृपाकटाक्ष।
अपने मुझ इस सोम से कहदे,
प्रजाओं के दिव्यीकरण के हेतु प्रजायें,
तुझे अवश्य ही तुझे करें अनुप्राणित सन्तत,
और निरन्तर अनुप्राणित कर तू प्रजाओं को॥

शुक्रं त्वा शुक्रेण क्रीणामि चन्द्रं चन्द्रेणामृतममृतेन।
सग्मे ते गोरस्मे ते चन्द्राणि तपसस्तनूरसि प्रजापतेर्वर्णः
परमेण पशुना क्रीयसे सहस्रपोषं पुषेयम्॥ (य० ४।२६)
शुक्रं त्वा शुक्रेण क्रीणामि चन्द्रं चन्द्रेण अमृतं अमृतेन।
सग्मे ते गोः अस्मे ते चन्द्राणि तपसः तनूः असि प्रजापतेः
वर्णः परमेण पशुना क्रीयसे सहस्र-पोषं पुषेयम्॥

देव का अर्चन करता करता देवयाजक देव को क्रय करने का संकल्प करता है। "देव को क्रय करके क्यों न सदा के लिये उसे अपना बनालूं", देवयाजक ने विचार किया।

अपना अपना मूल्य अलग अलग है। कोई धन से खरीदा जाता है तो कोई प्रेम से। कोई रूप से खरीदा जाता है तो कोई शील से। कोई हंसी से खरीदा जाता है तो कोई मुस्कान से।

पुत्र ने माँ से कहा, "माँ, मैं तुझे खरीदना चाहता हूं। अपना मूल्य बता"। माँ बोली, "मेरा यही मोल। बेटा मुझसे हंसके बोल"।

देवयाजक ने देव से पूछा, "देव, मैं तुझे क्रय करना चाहता हूं। अपना मूल्य बता"।

"मैं शुक्र [पवित्र] हूं, मुझे शुक्र [पवित्रता] से खरीदा जा सकता है। मैं चन्द्र [आह्लादक] हूं, मैं आह्लाद से खरीदा जा सकता हूं। मैं अमृत [प्रेममय] हूं, मुझे अमृत [प्रेम] से खरीदा जा सकता है", देव ने उत्तर दिया।

देवयाजक तो आत्मशोधन द्वारा पवित्रता का पुञ्ज बना हुआ ही था। आत्मबोधन द्वारा वह पूर्णतया आह्लाद से भरपूर और देव के प्रेम से भी आपूर था ही। सद्यः नक़द मूल्य चुकाता हुआ वह देव को सम्बोधन करता है—मैं (त्वा शुक्रं चन्द्रं अमृतं) तुझ पवित्र आनन्दमय और अमृत को (शुक्रेण चन्द्रेण अमृतेन क्रीणामि) पवित्रता, प्रसन्नता और प्रेम से खरीदता हूं।

पवित्रता प्रेम और प्रसन्नता से क्रय वह होता है।
अपावन शुष्कहृदय खिन्नमन उसको नहीं पाते ॥
वह होजायेगा अपना उसका जब सच्चा वरण होगा।
वरण करने से उसके विश्व का दिव्यीकरण होगा ॥

जिससे दुग्ध का दोहन किया जाता है, वह गौ है। पृथिवी भी असंख्य-स्तना गौ है। पृथिवी के असंख्य स्तनों से असंख्य रसों का दोहन होता है। इसी से "गौः पृथिवीनाम"—पृथिवी का नाम गौ है। ग्मा पृथिवी तया सह वर्तते तस्मिन् यज्ञः। गोः सग्मे का अर्थ है पृथिवी के यज्ञ में, पृथिवी के दिव्यीकरण के यज्ञ में।

देव को क्रय करके, देव को सदा के लिये अपना बनाकर, देवयाजक चन्द्रों से चन्द्रित होगया है, मोहकताओं से मोहक बन गया है, आह्लादों से आह्लादित होगया है। मानव प्रजायें उसके चन्द्रों से चन्द्रित हो हो कर उससे कह रही हैं—देवयाजक! (गोः सग्मे) पृथिवी के यज्ञ में, पृथिवी के दिव्यीकरण के याग में (ते चन्द्राणि) तेरे चन्द्र, तेरे आह्लाद (ते) तेरे लिये [तो हैं ही],(अस्मे) हमारे लिये [भी हैं]। तेरे चन्द्रों से हम भी चन्द्रित होरहे हैं। तेरी तरह हम भी देव को क्रय करके चन्द्रों से चन्द्रित होजायें।

और अब चन्द्रों से चन्द्रित देवयाजक अपनी तनू को सम्बोधन करता हुआ कहने लगता है—मेरी जीवनि! तू (तपसः तनूः असि) तप की विस्तारिका है। चन्द्रों से चन्द्रित होकर तू अपने तप का अधिकाधिक विस्तार कर।

दिव्य तप से तपःपूत होकर देवयाजक प्रजापति के वर्ण को खरीदना चाहता है। प्रजापति के वर्ण को खरीदने का अर्थ है स्वयं प्रजापति बनना। जो जिसके वर्ण [रङ्ग] में रंगता है, तद्रूप होकर वह वही हो जाता है।

पूर्व मन्त्र में देवयाजक ने देव से आशीर्वाद चाहा था कि प्रजाओं के दिव्यीकरण के लिये वह प्रजाओं को निरन्तर अनुप्राणित करता रह सके। प्रजाओं के अनुप्राणन के लिये तो देवयाजक को प्रजापति, प्रजा का रक्षक, प्रजा का स्वामी बनना पड़ेगा।

प्रजापति के वर्ण को क्रय करने अथवा प्रजापति बनने के लिये देवयाजक को परम पशु की बलि देनी होगी। परम पशु नाम मानव के अन्दर निहित उस पशुता का है, जिसके द्वारा मनुष्य स्वार्थरत होकर मानव प्रजा का शोषण करने लगता है। इसी भाव से अनुभावित होकर वह कह रहा है—प्रजा को दिव्यता से अनुप्राणित करने के लिये मुझे प्रजापति बनना है। मैं जानता हूं कि (प्रजापतेः वर्णः परमेण पशुना क्रीयसे) प्रजापति का वर्ण परम पशु से क्रय किया जाता है, प्रजापति बनने के लिये परम पशुता का हनन किया जाता है।

परम पशु का, परम पशुता का, हनन करके जब याजक प्रजापति बन जाता है, तब ही वह सहस्रों को पुष्ट करनेवाली पुष्टि से सुपुष्ट सम्पुष्ट होकर पृथिवी के दिव्यीकरण की साध में निरन्तर अग्रसर रह पाता है। इस भाव से वह कह रहा है—प्रजापति बनकर मैं (सहस्र-पोषं) असंख्यों को पुष्ट करनेवाली पुष्टि को [प्राप्त करके] (पुषेयं) पुष्ट रहूं।

मैं तुझ शुक्र चन्द्र अमृत को,
करता हूं क्रय शुक्र चन्द्र अमृत से।
इस पृथिवी के देवयजन में,
तेरे चन्द्र हैं तेरे और हमारे लिये।

है तू तप की सुविस्तारिका,
प्रजापति का वर्ण क्रय किया जाता है,
परम पशु से,
सहस्र-पुष्टि को पाकर सन्तत पुष्ट रहूं मैं ॥
सूक्ति—शुक्रं त्वा शुक्रेण क्रीणामि ॥
तुझ पवित्र को पवित्रता से खरीदता हूं ॥

**मित्रो न एहि सुमित्रध इन्द्रस्योरुमाविश दक्षिणमुशन्नुशन्तं स्योनः स्योनम् । स्वान भ्राजाङ्घारे बम्भारे हस्त सुहस्त कृशानवेते वः सोमक्रयणास्तान्रक्षध्वं मा वो दभन् ॥** (य० ४।२७)

मित्रः नः आ-इहि सु-मित्र-धः इन्द्रस्य उरुं आ-विश दक्षिणं उशन् उशन्तं स्योनः स्योनम् । स्वान भ्राज अंघारे बम्भारे हस्त सु-हस्त कृशानो एते वः सोम-क्रयणाः तान् रक्षध्वं मा वः दभन् ॥

देव का क्रय करके, देव को अपना बनाकर देवयाजक ने उसे अपना मित्र बना लिया है और तद्वत् सम्बोधन करता हुआ विनय करता है—

१) (मित्रः) मित्र होकर तू (नः आ-इहि) हमारे प्रति आ, हम सब देवयाजकों को सदा सम्प्राप्त रह, आत्मभावना द्वारा हमसे सदा संयुक्त रह ।

२) (सु-मित्र-धः स्योनः) सुमित्रों का धारक तथा सुखयिता तू (उशन्तं उशन्) चाहनेवाले को चाहता हुआ (इन्द्रस्य) इन्द्रियों के स्वामी आत्मा के (उरुं दक्षिणं स्योनं) विशाल दक्षिण सुख को (आ-विश) आ प्रवेश कर, व्याप ।

स्योन [सुख] दो प्रकार का होता है, सव्य [बायां] और दक्षिण [दायां] । इन्द्रियों से सेवनीय प्रकृतिजन्य सुख सव्य सुख है और आत्मा द्वारा सेवनीय ब्राह्म सुख दक्षिण सुख है । जिस सुख से शारीरिक उन्नति होती है, वह सव्य सुख है । जिस सुख से आत्मिक उन्नति होती है, वह दक्षिण सुख है । सव्य सुख अस्थिर और सीमित है । दक्षिण सुख शाश्वत और विशाल [व्यापक] है ।

देव अपने सुमित्र देवयाजकों का धारक और स्योन [सुखयिता] है । वह अपने चाहनेवाले प्रत्येक साधक को चाहता-दुलारता हुआ आत्मा के विशाल ब्राह्म सुख को व्यापता-विस्तारता है । देवयाजकों को देवयजन के लिये सर्वातिशय ब्राह्म स्योन की प्रत्यक्षतः अपेक्षा है । देवयजन किया ही इसलिये जा रहा है कि पृथिवी भर के सब निवासी विशाल और व्यापक दक्षिण स्योन के, ब्राह्म सुख के, भागी बन जायें ।

स्वन शब्दे । स्वान का अर्थ है शब्द करनेवाला, उपदेष्टा, प्रचारक । भ्राजृ दीप्तौ । भ्राज का अर्थ है दीप्ति अथवा प्रकाश करनेवाला । अंघारि=अंघ+अरि । अंघस् नाम पाप का है और अरि कहते हैं शत्रु को । अंघारि का अर्थ है पापों का शत्रु । जो पापकर्मों का शत्रु होता है, वह पुण्य धर्म का प्रस्थापक होता है । बम्भारि=बम्भ+अरि । बम्भ कहते हैं बन्धन को । बन्धनों के अरि को बम्भारि कहते हैं । हस्त नाम हाथ का है । सव्य हाथ हस्त है । दक्षिण हाथ सुहस्त है । दक्षिण हस्त में दक्षता होती है । सव्य हस्त सहारा देता है । कृशानु कृषि करनेवाला ।

सब देवयाजक समान नहीं होते। यद्यपि सभी देवयाजकों का लक्ष्य पृथिवी का दिव्यीकरण है, तथापि उनकी रुचि तथा क्षमता में स्वाभाविक भिन्नता होती है। देवयाजकों का एक स्वान वर्ग है, जो प्रवचन तथा वेदोपदेश में निष्णात है। वे प्रवचनों तथा वेदोपदेशों द्वारा पृथिवी का दिव्यीकरण करते हैं। दूसरा भ्राज वर्ग है, जो साधना और अभ्यास के द्वारा पृथिवी पर आत्मदीप्ति दीप्त करते हैं। तीसरा अंघारि वर्ग है, जो सामाजिक संशोधन के द्वारा मानव समाज में से पाप और अपराध का निराकरण करते हैं। चौथा बम्भारि वर्ग है, जो जनसम्पर्क द्वारा जन-जन को आसक्ति, विकार, व्यसन, वासना, आदि बन्धनों से मुक्त करते हैं। पांचवां हस्त वर्ग है, जो शिक्षण प्रशिक्षण द्वारा मानवों को दिव्यीकरण की साधना में सहारा देते हैं। छटा सुहस्त वर्ग है, जो अपनी आत्मदक्षता से जनों में दिव्यता का संस्थापन करते हैं। सातवां वर्ग कृशानु है। कृशानु नाम किसान का है, जो बीज-वपन द्वारा विस्तार करता है। देवयाजकों का जो वर्ग योजना और शैली का निर्धारण करके दिव्यीकरण का बीज-वपन करता है, कृशानु कहलाता है।

आत्मविनय के उपरान्त देवयाजक सातों वर्गों के देवयाजकों को सम्बोधन करता हुआ कहता है—स्वान! भ्राज! अंघारे! बम्भारे! हस्त! सुहस्त! कृशानो! तुम सब ऐसी सोम्य शैली से कार्य करो कि (एते) ये, पृथिवी के ये सब मानव (वः सोम-क्रयणाः) तुम्हारे सोम के क्रय करनेवाले बन जायें, तुम्हारे दिव्यतारूपी सोम के ग्राहक होजायें। तुम (तान्) उन्हें / उनकी (रक्षध्वं) रक्षा करो, सावधानी के साथ उन्हें दिव्य पथ से पृथक् होने से बचाओ। तुम उनके साथ ऐसा सुष्ठु बर्ताव करो, प्रीतिपूर्वक उनकी ऐसी सुसेवा करो कि वे (वः) तुम्हें (मा दभन्) न दबायें, न सतायें, तिरस्कृत न करें। अपि तु वे तुम्हारा पूजन और सत्कार करें।

होकर मित्र हमारे प्रति आ,
तू धारक सन्मित्रों का है और सुखयिता,
सतत चाहता हुआ चाहनेवाले को तू,
व्याप आत्मा के विशाल और दक्षिण सुख को।
स्वान भ्राज अंघारे और बम्भारे,
हस्त सुहस्त कृशानो,
ये सब ही हैं सोम-क्रयकर्ता तुम्हारे,
उनकी रक्षा करो, तुम्हें वे नहीं सतायें॥

सूक्ति—मित्रो न एहि॥
　　मित्र तू हमारे प्रति आ॥

परि माग्ने दुश्चरिताद्बाधस्वा मा सुचरिते भज।
उदायुषा स्वायुषोदस्थाममृताँ अनु॥　　(य० ४।२८)

परि मा अग्ने दुःचरितात् बाधस्व आ मा सु-चरिते भज।
उत्-आयुषा सु-आयुषा उत्-अस्थां अमृतान् अनु॥

पूर्व मन्त्र में जिस देव को मित्र और सुमित्रध कहा गया है, उसी को यहां अग्नि नाम से पुकारा गया है। अग्नि प्रकाशक और पावक होता है। अग्नि जहां अन्धकार को हटाकर प्रकाश करता है, वहां वह पवित्र भी करता है। प्रकाश और पूतीकरण का सम्बन्ध है। प्रकाश से ही और प्रकाश में ही पूतीकरण होता है।

चर गतौ धातु से चरित शब्द बना है। अन्तः बाह्य प्रत्येक गति और चेष्टा चरित में सम्मिलित है।

विचार का स्रोत मस्तिष्क की गति है। मन की गति से संकल्प की उत्पत्ति होती है। भावनाओं का मूल चित्त की गति ही है। पलकों की गति का नाम निमेष उन्मेष है। वाणी की गति से वचन बोला जाता है। मुख की गति के द्वारा खान पान होता है। करों की गति से कर्म होता है। पगों की गति का ही नाम चलना फिरना है। प्राण की गति ही श्वास प्रश्वास है। मुस्कराने में ओष्ठ और हंसने में सम्पूर्ण शरीर गति करता है।

सोचना विचारना, उठना बैठना, बोलना चालना, खाना पीना, हंसना मुस्कराना, शौच स्नान, संकल्प साधना, भाव भावना, विनोद उपहास, निमेष उन्मेष, चलना फिरना, करना धरना, श्वास प्रश्वास, व्यापार व्यवसाय, पढ़ना लिखना, दाम्पत्य विरक्ति—सब गतियां और चेष्टायें चरित के परिवार में सम्मिलित हैं।

आयु नाम जीवन का है। आयु तथा जीवन पर्यायवाची हैं। यथा चरित तथा आयु। जैसा जिसका चरित वैसा उसका जीवन। जिसका चरित सुचरित है, उसका जीवन सुजीवन है। जिसका चरित दुश्चरित है, उसका जीवन दुर्जीवन है। निकृष्ट चरित, निकृष्ट जीवन। उत्कृष्ट चरित, उत्कृष्ट जीवन।

देवयाजक को सदा स्मरण रखना चाहिये कि चरित की वाणी चर्म की वाणी से अधिक प्रभावशालिनी होती है। दिव्यीकरण में प्रवचन की अपेक्षा जीवन का कहीं अधिक महत्त्व है। निस्सन्देह देवयाजक का चरित और जीवन अतिशय उत्कृष्ट होना चाहिये। एतदर्थं उसे प्रकाशक पावक देव से अनवरत प्रार्थना करते रहना चाहिये—(अग्ने) प्रकाशस्वरूप! पवित्रकर्तः! (मा) मुझे (दुःचरितात्) दुश्चरित से (परि बाधस्व) सर्वतः रोकता-वर्जता रह, (मा) मुझे (सु-चरिते) सु-चरित में (आ भज) सर्वथा नियुक्त रख, ताकि मैं (अमृतान् अनु) अमृतों को अनुसरता हुआ, अमृतमय चरितों को अनुचरता हुआ (उत्-आयुषा) उत्कृष्ट आयु से, उच्च जीवन से तथा (सु-आयुषा) सु-आयु से, सुष्ठु जीवन से (उत्-अस्थां) उत्स्थ हुआ रहूं, ऊंचा उठा रहूं।

प्रकाश से पवित्रता का, पवित्रता से सुचरित का, सुचरित से जीवन की उत्कृष्टता का, उत्कृष्टता से सुजीवन का और सुजीवन से उच्चस्थता का सम्बन्ध स्पष्ट है। देवयाजकों के जीवन की उच्च स्थिति से ही प्रत्यक्षतः दिव्यीकरण की साधना संसिद्ध होगी।

अग्ने! मुझको वर्ज सर्वतः दुश्चरित से,
और नियुक्त रख मुझे सर्वतः सुचरित में।
ताकि अमृतों को अनुचरता हुआ,
रहूं उच्चस्थ उदायु और सु-आयु से॥

सूक्ति—परिमाग्ने दुश्चरिताद्बाधस्व॥
प्रभो! मुझे दुश्चरित से वर्ज॥
आ मा सुचरिते भज॥
मुझे सुचरित में नियुक्त रख॥

**प्रति पन्थामपद्महि स्वस्तिगामनेहसम्। येन विश्वाः परि द्विषो वृणक्ति विन्दते वसु॥**
[ऋ० ६. ५१. १६] (य० ४।२९)

प्रति पन्थां अपद्महि स्वस्ति-गां अनेहसम्। येन विश्वाः परि द्विषः वृणक्ति विन्दते वसु॥

पद गतौ। पद धातु का अर्थ है गति करना, पग चलाना, चलना।

स्वस्ति—सु-अस्ति, सु-अस्तित्व। हस्ती [जिन्दगी] शब्द वेद के अस्ति शब्द का ही

रूपान्तर है। अनेहस=अन्-एहस, नहीं पाप, निष्पाप। जिस पथ पर चलकर मनुष्य सु-अस्तित्व [सुन्दर सुष्ठु जीवन] से युक्त तथा पाप से मुक्त रहता है, उसी का नाम स्वस्तिगम अनेहस पन्थ [पथ] है। वह पन्थ अथवा पथ आत्मसाधना का ही पथ है, जिसका विशद वर्णन तथा शिक्षण यजुर्वेद के तृतीय अध्याय की व्याख्या में किया गया है।

देवयाजक दुश्चरित से मुक्त और सुचरित से युक्त होकर उदायु [उत्कृष्ट जीवन] तथा स्वायु [सु-आयु, सुष्ठु-सुन्दर जीवन] से सम्पन्न है। यह जीवन-सम्पन्नता उन्हें यों ही प्राप्त नहीं होगयी है। इसके लिये उन्हें दीर्घ काल तक अनवरत साधना के उस पथ पर चलना पड़ा है, जो स्वस्तिगम और अनेहस है, जो सु-अस्तित्व का निष्पादक और निष्पापता का सम्पादक है और जिसपर चलने से देवयजन करनेवाला देवयाजक ही क्या, कोई भी मनुष्य, द्वेषों को त्यागकर उभय ऐश्वर्य प्राप्त करता और कराता है।

दिव्य संसिद्ध देवयाजक इसी तथ्य को प्रकट करते हुए कह रहे हैं, "जीवन की उत्कृष्टता और सुष्ठुता से हम यों ही समलंकृत नहीं होगये हैं। एतदर्थं हमने (प्रति अपद्महि) प्रतिपदन किया है, हमने प्रत्येक पद-पग-क़दम रखा है, हम चले हैं, उस (स्वस्ति-गां अनेहसं पन्थां) स्वस्ति-गम निष्पाप पथ पर, (येन) जिससे, जिसपर चलने से, मनुष्य (विश्वाः द्विषः) सब द्वेषों को (परि वृणक्ति) परित्याग करता है और (वसु विन्दते) ऐश्वर्य प्राप्त करता है।

पृथिवी के दिव्यीकरण में द्वेष बहुत बड़ी बाधा है। देवयाजक, द्वेषरहित होकर, जब संसार को द्वेषमुक्त करेंगे, तब ही पृथिवी के दिव्यीकरण का पथ प्रशस्त होगा। और द्वेष से मुक्त संसार तब होगा, जब देवयाजक स्वस्तिगम निष्पाप पथ पर आरूढ़ हुये जन जन को उस पथ पर चलायेंगे। द्वेषरहित होकर ही इस मही के मानव वसु प्राप्त करेंगे, भौतिक व आत्मिक ऐश्वर्य प्राप्त कर पायेंगे।

सन्तत हम चलते आये हैं,
स्वतिगम निष्पाप सुपथ पर।
जिससे परित्याग करता है,
मानव सब द्वेषों को निश्चय,
और ऐश्वर्य पाता है॥

अदित्यास्त्वगस्यदित्यै सद आसीद।
अस्तभ्नाद्द्यां वृषभो अन्तरिक्षममिमीत वरिमाणं पृथिव्याः।
आसीदद्विश्वा भुवनानि सम्राड्विश्वेत्तानि वरुणस्य व्रतानि॥

(य० ४।३०)

अदित्याः त्वक् असि अदित्यै सदः आ-सीद।
अस्तभ्नात् द्यां वृषभः अन्तरिक्षं अमिमीत वरिमाणं पृथिव्याः।
आ-असीदत् विश्वा भुवनानि सम्राट् विश्वा इत् तानि वरुणस्य व्रतानि॥

त्वच संवरणे-ढांपना-व्यापना, इस धातु से त्वच् अथवा त्वचा शब्द बना है। समस्त शरीर पर व्यापकर सम्पूर्ण शरीर को ढांपनेवाली होने से ही शरीर की खाल को त्वचा कहते हैं।

वृषु सेचने। वृषभ सींचनेवाला। सींचनेवाला होने से ही मेघ वृषभ कहाता है। जीवन का सिंचन करनेवाला होने से आत्मा वृषभ है। और अखिल ब्रह्माण्ड का सिंचनकर्ता होने से परमात्मा वृषभ है ही।

जो सम्यक् राजता प्रकाशता है, उसे सम्राट् कहते हैं। यहां सम्राट् शब्द का प्रयोग परमात्मा के लिये हुआ है। वह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में सम्यक् राज और प्रकाश रहा है।

वरुणो वै पाशविमोचकः। पाशों से मुक्त करनेवाला वरुण है। जो भी पाशों से मुक्त करे, वह वरुण है। वरुणो वै नाविकः। नौका को खेकर पार उतारनेवाला भी वरुण है। वरुण शब्द का प्रयोग यहां परमात्मा के लिये ही हुआ है। वह पाशों को खोलनेवाला और जीवन-नौका का खेनेवाला है। यह संसार वरुण की नौका है और वरुण ही इसका खेनेवाला है। आसक्ति, लेप, आदि पाशों से मुक्त करनेवाला भी वही है।

द्वेषों को लांघता हुआ और द्वेषजन्य वैरविरोधों का अतिक्रमण करता हुआ देवयाजक दिव्यीकरण की समुदात्त और सुविशाल योजना को कार्यान्वित करता चला जारहा है। कार्य की गुरुता और मार्ग की कठिनाइयों को देखकर वह जब तब सिहिर उठता है और अपने आत्मसंबल को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिये वह अपने आपसे कहने लगता है—रे देवयाजक! तू (अदित्याः त्वक् असि) अखण्ड भूमि की त्वचा है। तू सम्पूर्ण पृथिवी पर व्यापकर उसे दिव्यता से ढांपने-व्यापने की क्षमता रखता है। (सदः) संस्थित-संस्थिर होकर (अदित्यै) अखिल पृथिवी के लिये (आ-सीद) आस्थित हो, डटा रह। सम्पूर्ण पृथिवी के दिव्यीकरण का जो व्रत तूने धारण किया है, उसकी संसिद्धि के लिये तू अन्त तक साधरत रहा चला जा।

और फिर परोक्ष में दृष्टि घुमाकर स्वात्मसंबल को बढ़ाने के लिये वह कहता है—रे देवयाजक! जो (वृषभः) वृषभ (द्यां अन्तरिक्षं अस्तभ्नात्) द्यौ और पृथिवी को थामे-सहारे हुए है और (पृथिव्याः वरिमाणं अमिमीत) पृथिवी के सुविस्तार को मापे हुये है, वह ही वृषभ पृथिवी के दिव्यीकरण की तेरी साध में तुझे सहारेगा और पृथिवी के विस्तृत विस्तार को मापने की तुझे क्षमता प्रदान करेगा।

वह फिर कहता है—रे देवयाजक! जो (सम्राट्) सम्राट् (विश्वा भुवनानि आ-असीदत्) समस्त भुवनों को अधिष्ठित किये हुये है, समस्त लोकों का अधिष्ठातृत्व कर रहा है, वह ही पृथिवी के दिव्यीकरण की तेरी साधना में तेरा अधिष्ठातृत्व करेगा।

वह पुनः कहता है—रे देवयाजक! अखिल ब्रह्माण्ड के (तानि विश्वा व्रतानि) वे सब व्रत, वे सब सृष्टि-नियम (वरुणस्य इत्) वरुण के ही हैं, वरुण के ही नियन्त्रण में संचालित होरहे हैं। वह वरुण ही, वह नियन्ता ही, तेरे व्रतों को पूरा करेगा।

तू है त्वचा सकल पृथिवी की,
संस्थित होकर इस पृथिवी के,
दिव्यीकरण के लिये डटा रह।
धारण किये हुये है वृषभ,
द्योलोक और अन्तरिक्ष को,
थामे हुये वही पृथिवी के सुविस्तार को।
वह सम्राट सकल भुवनों को,
स्वयं अधिष्ठित किये हुये है,
उसी वरुण के हैं वे सारे व्रत चल रहे॥
सूक्ति—विश्वेत्तानि वरुणस्य व्रतानि॥
वे सारे व्रत वरुण के ही हैं॥

वनेषु व्यन्तरिक्षं ततान वाजमर्वत्सु पय उस्रियासु ।
हृत्सु क्रतुं वरुणो विक्ष्वग्निं दिवि सूर्यमदधात् सोममद्रौ ॥
[ऋ० ५. ८५. २] (य० ४।३१)

वनेषु वि अन्तरिक्षं ततान वाजं अर्वत्सु पयः उस्रियासु ।
हृत्सु क्रतुं वरुणः विक्षु अग्निं दिवि सूर्यं अदधात् सोमं अद्रौ ॥

देवयाजक कहे चला जारहा है—जिस (वरुणः) वरुण ने (वनेषु अन्तरिक्षं वि ततान) वनों-जंगलों पर आकाश को विस्तारा-फैलाया है और (अदधात्) धारण-स्थापन किया है (अर्वत्सु वाजं) तीव्रगामियों में वेग को, (उस्रियासु पयः) गौओं में दुग्धरस को, (हृत्सु क्रतुं) हृदयों में कर्तृत्व-कर्मनिष्ठा को, (विक्षु अग्निं) प्रजाओं में अग्नि [जठराग्नि] को, (दिवि सूर्यं) आकाश में सूर्य को, (अद्रौ सोमं) मेघ [बादल]में सोम को, उसी वरुण ने मुझमें पृथिवी के दिव्यीकरण की प्रेरणा की है और वह ही मेरे द्वारा पृथिवी के इस देवयजन की सम्पूर्ति करायेगा।

गौणवृत्ति से यहां पदार्थ-विज्ञान का एक तत्त्व प्रकाशित किया गया है। अद्रौ सोमः=मेघ में सोम। जिस जल या रस में चन्द्र की चन्द्रिका का विशेषांश होता है, उसे सोम कहते हैं। सोम में अमृत निहित होता है। सोमलता से निष्पादित सोम में जो गुण होते हैं, वे ही गुण मेघ [बादल] से बरसनेवाले जल में होते हैं। वृष्टि के जल को भूमि पर न गिरने देकर काच या धातु के पात्र में संचित करके बोतलों या अमृतबानों में भरकर रख लिया जाये और उसका विधिपूर्वक सेवन किया जाये तो सोम के सेवन का जैसा लाभ होता है।

वरुण ने वनों पर है आकाश छाया,
स्थापन किया वेग तीव्रगामियों में,
गौओं में दुग्ध कर्मनिष्ठा हृदयों में,
जनों में अग्नि द्यौ में सूर्य को,
स्थापन किया सोम बादल में उसने ॥

सूर्यस्य चक्षुरारोहाग्नेरक्ष्णः कनीनकम् ।
यत्रैतशेभिरीयसे भ्राजमानो विपश्चिता ॥ (य० ४।३२)

सूर्यस्य चक्षुः आ-रोह अग्नेः अक्ष्णः कनीनकम् ।
यत्र एतशेभिः ईयसे भ्राजमानः विपःचिता ॥

सूर्य शब्द का प्रयोग मन्त्र में देवयाजक ने स्वयं अपने लिये किया है। देवयाजक सूर्य के समान ज्ञान-प्रकाश से प्रकाश रहा है, आत्मतेज से जगमगा रहा है और अपने ज्ञानप्रकाश तथा आत्मतेज से पृथिवी की मानव-प्रजा के अन्धकार को हटाकर उसे दिव्यता से सम्पूरित कर रहा है।

अग्नि शब्द का प्रयोग भी यहां देवयाजक ने स्वयं अपने लिये ही किया है। वह अग्नि के समान ज्ञापक, प्रज्ञापक, पावक और अग्रणी [आगे लेजानेवाला] है।

एतश नाम है तीव्रगामी का। तीव्र गति होने से अश्व एतश है, सूर्य की रश्मियां एतश हैं। यहां एतश से तात्पर्य परमात्मा की उन दिव्य किरणों से है, जो प्रकाशमान लोकों को प्रकाशित कर रही हैं और देवयाजक के अन्तःकरण को जगमगा रही हैं।

विपश्चितः शब्द का प्रयोग भी स्वयं देवयाजक के लिये हुआ है। विपश्चितः=वि [विविधतया, विशेषतया]-पः पन्यः [स्तुत्य]-चितः [प्रचेतना, प्रज्ञा, मेधा] है जिसकी वह मेधावी।

पूर्व मन्त्र में उल्लिखित वरुण को सम्बोधन करते हुये देवयाजक गहन आत्मीयता के साथ विनय कर रहा है—वरुण ! तू (सूर्यस्य चक्षुः) मुझ सूर्य का नेत्र है। तू ही मेरा पथ-प्रकाशक और नयनकर्ता है।

(एतशेभिः भ्राजमानः) रश्मियों से प्रकाशमान तू (यत्र) जहां, जहां कहीं, जब जब (विपश्चिता) मुझ मेधावी द्वारा (ईयसे) प्रार्थी जाता है, वहीं वहीं, तब तब, तू (अग्नेः अक्षणः) मुझ प्रज्ञावान् अग्रणी की (कनीनकं आरोह) पुतली पर आरोहण कर, मेरी दृष्टि में दृश्यमान हो, मुझसे मुख समुख होकर मेरी प्रार्थना स्वीकार कर।

निस्सन्देह प्रार्थनायें मार्ग में से पर्वतों को हटा देती हैं। देवयाजक के मार्ग में जब जहां कोई विघ्न बाधा आये, वह अपने मार्ग के प्रशस्तीकरण के लिये वरुण से प्रार्थना करे। और वरुण तो पाशविमोचक अपि च नौका खेनेवाला है। वह देवयजन के पथ की हिमालय जैसी बाधाओं को भी दूर हटा देगा।

तू है चक्षु मुझ सूरि का,
कर आरोहण तू पुतली पर,
मुझ अग्नि के चक्षु की,
किरणों से प्रकाशमान तू,
जहां कि मुझ मेधावी द्वारा,
किया प्रार्थना तू जाता है॥

उस्रावेतं धूर्षाहौ युज्येथामनश्रू अवीरहणौ ब्रह्मचोदनौ।
स्वस्ति यजमानस्य गृहान् गच्छतम्॥ (य० ४।३३)

उस्रौ आ-इतं धूःसहौ युज्येयां अनश्रू अवीर-हनौ ब्रह्म-चोदनौ।
स्वस्ति यजमानस्य गृहान् गच्छतम्॥

उस्रा नाम रश्मि का है। उस्रौ दो रश्मियां। एक रश्मि तो स्वयं देवयाजक है। दूसरी रश्मि कौन है ? दूसरी रश्मि है देवयाजक की देवयजनी पत्नी। देवयाजक की पत्नी भी देवयाजक के समान ही रश्मिरूपा होनी चाहिये। देवयाजक यदि निकटतम रहनेवाली अपनी पत्नी को रश्मिरूपा न बना सका तो अन्यों का वह क्या दिव्यीकरण कर सकेगा।

धूःसह=धुर-सह, भारसहारनेवाला। धूःसहौ= दो धुरं सहारनेवाले। एक गाड़ी में दो धुर होते हैं, जिन पर गाड़ी के दोनों पहिये घूमते हैं। पति और पत्नी साधना—शकट के दो धुर हैं। दोनों की सहसाधना से ही प्रत्येक क्षेत्र में पूर्ण संसिद्धि होती है। दोनों के संयुक्त देवयजन से ही नारी-समाज और नर-समाज का पूर्ण दिव्यीकरण होगा।

अनश्रु=अन्-अश्रु, नहीं अश्रु, अश्रुरहित, विषाद को प्राप्त न होनेवाला। अनश्रू=दो अश्रुरहित। अकेलापन कभी कभी विषाद का अवसर ला देता है। किन्तु जहां पति पत्नी के रूप में एक दूसरे को निष्ठापूर्वक हृदय से प्यार करनेवाले साथ साथ रहते, विचरते और साधना करते हैं, वहां अश्रु या विषाद का क्या काम। वहां तो सदा प्रसन्नता, शान्ति और तृप्ति रहती है।

अवीरहन्=अवीर-हन्, अवीरता का हनन करनेवाला। अवीरहनौ=दो अवीरहन। कोई

कैसा भी साहसी क्यों न हो, अकेलापन प्रायः अवीरता—हताशता का प्रभाव ला देता है। दो जीवनों के हार्दिक मेल से साहस और साधना अक्षुण्णतया बने रहते हैं।

ब्रह्मचोदन=ब्रह्म-चोदन, ब्रह्म-प्रेरक, ब्राह्मी स्थिति में स्थित रहकर जन-जन को दिव्यीकरण की प्रेरणा करनेवाला। ब्रह्मचोदनी=दो ब्रह्म-प्रेरक। विकार-वासनाओं से रहित रहने पर ही पति पत्नी ब्राह्मी स्थिति में स्थित रह पाते हैं। देवयाजक दम्पती के लिये पृथिवी का सम्पूर्ण मानव-समाज यजमान है और प्रत्येक घर उनका अपना है। मानवसमाज के दिव्यीकरण के लिये देवयाजक और देवयाजिका को घर-घर में प्रवेश करके प्रत्येक परिवार से सम्पर्क स्थापन करना होगा।

वरुण की प्रार्थना से तरंगित होकर दोनों को आत्म-प्रेरणा होरही है—दोनों (घूःसहौ अनश्रू अवीर-हनौ ब्रह्म-चोदनौ उस्रौ) धुर-सह अश्रुरहित अवीर-हन ब्रह्म-प्रेरक रश्मियो ! दोनों (आ-इतं) आओ, (युज्येथां) युक्त होजाओ, दिव्यीकरण में जुड़-जुट जाओ और (स्वस्ति) कुशल-पूर्वक (यजमानस्य) मानवसमाजरूपी यजमान के (गृहान् गच्छतं) गृहों को जाओ, सब घरों में प्रवेश करो।

धुर-सह अश्रुरहित अवीर-हन,<br>
ब्रह्म-प्रेरक उभय रश्मियो !<br>
आओ दोनों जुड़-जुट जाओ,<br>
स्वस्तिपूर्वक जाओ घरों को,<br>
मानव-यजमानस्य ॥

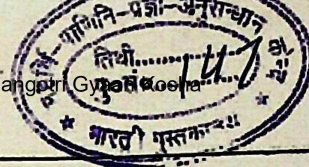
**भद्रो मे ऽसि प्रच्यस्व भुवस्पते विश्वान्यभि धामानि।**<br>
**मा त्वा परिपरिणो विदन् मा त्वा परिपन्थिनो विदन् मा त्वा वृका अघायवो विदन्।**<br>
**श्येनो भूत्वा परापत यजमानस्य गृहान् गच्छ तन्नौ संस्कृतम् ॥ (य० ४।३४)**

भद्रः मे असि प्र-च्यस्व भुवःपते विश्वानि अभि धामानि।<br>
मा त्वा परि-परिणः विदन् मा त्वा परि-पन्थिनः विदन् मा त्वा वृकाः अघ-यवः विदन्।<br>
श्येनः भूत्वा परा-पत यजमानस्य गृहान् गच्छ तत् नौ संस्कृतम् ॥

भुवःपति का अर्थ है भूमि का पति, सम्पूर्ण पृथिवी का रक्षक। पृथिवी के दिव्यीकरण की साध में रत देवयाजक निस्सन्देह पृथिवी का रक्षक है। वह उनकी अधर्म, नास्तिकता और पापाचार से रक्षा करके उनमें धर्म, आस्तिकता और सदाचार की प्रस्थापना करता है और इस प्रकार उन्हें दुःख से बचाकर सर्वप्रकारेण सुखी और आनन्दित करता है।

देवयजन में अपने देवयाजक पति का साथ देती हुयी देवयाजिका कहती है—(भुवःपते) भूमि के पालक ! पृथिवी के रक्षक ! तू (मे भद्रः असि) मेरा कल्याण है, मेरा कल्याणकर्ता है, देवयजन में मुझे अपना साथी बनाकर तूने मेरा बड़ा उपकार किया है। मैं कृत्य-कृत्य होगयी हूं। मेरा जन्म सफल होगया है।

अवसर विशेष पर देवयाजिका देवयजन यात्रा पर इधर जारही है और उसका पति उधर जारहा है। विदाई देती हुई वह सम्प्रेरणा कररही है—भुवस्पते ! (अभि) सब ओर (विश्वानि धामानि) समस्त धामों को (प्र-च्यस्व) जा। समस्त भूमण्डल पर निर्भय होकर विचरता हुआ देवयजन कर।





और अब शुभ कामना करती है—भुवस्पते ! (त्वा परि-परिणः मा विदन्) तुझे उठायीगीरे न प्राप्त हों, (त्वा परि-पन्थिनः मा विदन्) तुझे बट-मार न प्राप्त हों, (त्वा अघायवः वृकाः मा विदन्) तुझे पापेच्छु भेड़िये [हत्यारे] न मिलें। तेरी यात्रा निर्विघ्न हो।

विदा होते-होते वह पुनः सम्प्रेरणा करती है—(श्येनः भूत्वा परा-पत) श्येन होकर झपट। श्येन के समान तीव्रगामी बनकर (यजमानस्य गृहान् गच्छ) मानवसमाजरूपी यजमान के गृहों को जा, सब गृहों में प्रवेश कर।

विदा होते-होते वह पुनः कहती है—भुवस्पते ! (नौ) हम दोनों का (तत् संस्कृतं) वह संस्कृत है, वह सं-कृत है, वह सु-कृत है, जन्म-जन्म का सुसंस्कार है कि हम दोनों देवयजन की दिव्य साध में रत हैं।

भुवस्पते ! तू भद्र मेरा है,
सब धामों को पा तू प्रसितः।
तुझे मिलें न उठायीगीरे,
तुझे प्राप्त बटमार न होवें,
तुझे मिलें न पापी हत्यारे।
बनकर श्येन झपट जा गृहों को,
मानव यजमानस्य।
यह है हम दोनों का संस्कृत ॥
सूक्ति—भद्रो मे ऽसि ॥
तू मेरा कल्याण है ॥
श्येनो भूत्वा परापत ॥
बाज बनकर झपट ॥

नमो मित्रस्य वरुणस्य चक्षसे महो देवाय तदृतं सपर्यत।
दूरेदृशे देवजाताय केतवे दिवस्पुत्राय सूर्याय शंसत ॥
[ऋ० १०. ३७. १] (य० ४।३५)

नमः मित्रस्य वरुणस्य चक्षसे महः देवाय तत् ऋतं सपर्यत।
दूरे-दृशे देव-जाताय केतवे दिवःपुत्राय सूर्याय शंसत ॥

देवयाजक की साध फल ला रही है। पृथिवी पर वह जहां भी जाता है, वहीं लोग उसे सस्वागत नमस्कार करते हैं—

१) तुझ (मित्रस्य वरुणस्य चक्षसे नमः) मित्रता और वरणीयता दर्शानेवाले के लिये नमस्कार है।

२) तुझ (देवाय नमः) दिव्यता के पुञ्ज के लिये नमस्कार है।

३) तुझ (दूरे-दृशे नमः) दूर [दूर तक] दर्शानेवाले [दीर्घदर्शी] के लिये नमस्कार है।

४) तुझ (देव-जाताय नमः) दिव्यता के सम्पादक के लिये नमस्कार है।

५) तुझ (केतवे नमः) प्रज्ञापक-उद्बोधक के लिये नमस्कार है।

६) तुझ (दिवःपुत्राय नमः) दिव्यता के पुत्र-पुतले के लिये नमस्कार है।

७) तुझ (सूर्याय नमः) सूर्य के लिये, सूर्य के समान दिव्य प्रकाश पूरनेवाले के लिये, नमस्कार है।

जनता के अभिनन्दन और नमस्कार से अहंकार अथवा अहम्मन्यता को प्राप्त न होकर वह विनम्रतापूर्वक शालीनता के साथ प्रजा को प्रेरणा करता है—लोगो ! मेरा पूजन न करके (तत् महः ऋतं सपर्यत) उस महान् ऋत को सेवन करो और (तत् महः ऋतं) उस महान्

सत्य को ही (शंसत) शंसो, प्रशंसो, स्तुतो। वह दिव्य देव, जिसकी दिव्यता से यह सब द्योतित होरहा है, वह ही वह महान् सत्य है, जिसका तुम्हें सेवन करना चाहिये और जिसकी तुम्हें स्तुति करनी चाहिये। उसके स्थान में किसी अन्य का सेवन और स्तवन न करो।

नमस्कार है,
मित्र वरुण के वर्शयिता को,
देव दीर्घदर्शी प्रज्ञापक देवजात को,
दिव्य दिव्यता के पुतले को, सूर्य देव को।
सेवो तुम उस महत् सत्य को,
उसी को स्तुतो ॥
सूक्ति—सद्दतं सपर्यत ॥
उस सत्य को / का सेवन करो ॥

**वरुणस्योत्तम्भनमसि वरुणस्य स्कम्भसर्जनी**
**स्थो वरुणस्य ऋतसदन्यसि वरुणस्य ऋतसदनमसि वरुणस्य ऋतसदनमासीद ॥**

(य० ४।३६)

**वरुणस्य उत्-तम्भनं असि वरुणस्यं स्कम्भ-सर्जनी स्थः**
**वरुणस्य ऋत-सदनी असि वरुणस्य ऋत-सदनं असि वरुणस्य ऋत-सदनं आ-सीद ॥**

देवयजन करते हुए कभी कहीं देवयाजिका पत्नी और देवयाजक पति साथ साथ होजाते हैं और कभी कहीं पृथक् पृथक् भ्रमण करते हैं। जब कहीं दोनों साथ साथ जाते हैं, तो जनता दोनों को साधुवाद कहती है—

१) तुम दोनों धन्य (स्थः) हो।

२) देवयाजक! तू (वरुणस्य) वरणीयता का (उत्-तम्भनं) उत्-स्तम्भ, आश्रय (असि) है! तू धन्य है कि तू पृथिवी पर वरणीयता की, दिव्यता की प्रस्थापना कररहा है।

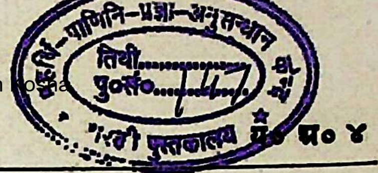
३) देवयाजिके! तू (वरुणस्य) वरणीयता की (स्कम्भ-सर्जनी) स्कम्भ-संसर्जिका, आश्रय-रचयिनी (असि) है और है (वरुणस्य) वरणीयता की (ऋत-सदनी) ऋत-गृहा, ऋताचार-भूमि, सदाचार-भूमिका। तू धन्य है कि तू पृथिवी पर वरणीयता और ऋताचार, शोभनीयता और सदाचार, श्री और संयम, की व्याप्ति में अपने पति के साथ सहसाधना कररही है।

४) देवयाजक! तू (वरुणस्य) वरणीयता का (ऋत-सदनं) ऋत-सदन, ऋत-गृह, ऋताचार-स्थल, सदाचार-संस्थान, सत्य का पुञ्ज (असि) है। तू धन्य है कि तू ऋत की भित्ति पर स्थित होकर पृथिवी पर वरणीयता की संस्थापना करता फिररहा है।

देवयाजिके! (वरुणस्य) वरणीयता के (ऋत-सदनं आ-सीद) ऋत-सदन पर बैठ, ऋताचार की संस्थिति पर स्थित रह, सदाचार के धरातल पर संधृत रह। इसी धरातल पर संधृत हुई तू देवयजन में अपने पति का साथ दिये चली जा।

देवयाजक! तू भी (वरुणस्य) वरणीयता के (ऋत-सदनं आ-सीद) ऋताचार के धरातल पर आधृत-संधृत रह। इसी धरातल पर आधृत हुआ तू सतत सन्तत निरन्तर देवयजन किये चला जा।

तुम दोनों हो धन्य और वन्दनीय।
और तू है उत्तम्भ वरणीयता का।
वरणीयता की स्कम्भ-सर्जनी तू,
और तू है ऋत-सदनी वरणीयता की।
और ऋत-सदन तू है वरणीयता का।
स्थित संस्थित ऋतसदन पर तू रहना ॥






सूक्ति—वरुणस्योत्तम्भनमसि ॥
तू वरुणीयता का उत्-स्तम्भ है ॥
वरुणस्य ऋतसदन्यसि ॥
तू वरुणीता की ऋत-सदनी है ॥

वरुणस्य ऋतसदनमसि ॥
तू वरुणीयता का ऋत-सदन है ॥
वरुणस्य ऋतसदनमासीद ॥
तू वरुणीयता के ऋतसदन पर स्थित रह ॥

**या ते धामानि हविषा यजन्ति ता ते विश्वा परिभूरस्तु यज्ञम् ।**
**गयस्फानः प्रतरणः सुवीरोऽवीरहा प्रचरा सोम दुर्यान् ॥**
[ऋ० १. ९१. १९] (य० ४।३७)

या ते धामानि हविषा यजन्ति ता ते विश्वा परि-भूः अस्तु यज्ञम् ।
गय-स्फानः प्र-तरणः सु-वीरः अवीर-हा प्र-चर सोम दुर्यान् ॥

गयस्फानः=गय-स्फानः । गय नाम गृह सन्तान और धन का है। गय नाम उसी घर का है, जिसमें सन्तान और धन है। स्फायी वृद्धौ। स्फानः=वृद्धि करता हुआ। दुर्य नाम उस घर का है, जहां दुः हो, दुःख हो। गय=सम्पन्न परिवार। दुर्य=असम्पन्न दीन परिवार।

देवयाजिका अपि च जनता देवयाजक के साहस और उत्साह को बढ़ाती हुई कहती है—

१) (सोम) चन्द्रमुख देवयाजक ! (या धामानि) जो धाम (हविषा) हवि से, धन धान्य से, सुखसाधन से (यजन्ति) संगत होरहे हैं, (ता विश्वा) वे सब (ते) तेरे हों ही, तेरे देवयजन के क्षेत्र में हों ही, किन्तु पृथिवी का प्रत्येक हविशून्य दुर्गम प्रदेश भी (ते यज्ञं परि-भूः अस्तु) तेरे यज्ञ के प्रति परि-सत्त हो, तेरे देवयजन की परिधि में आये। दिव्यीकरण के लिये तुझे पृथिवी के उन प्रदेशों में भी पहुंचना है, जहां कोई सुख सुविधा प्राप्त नहीं है और जहां मानव अमानुषी जीवन बिता रहे हैं।

(सोम) सुशोभन देवयाजक ! (सु-वीरः) सुवीरता से युक्त और (अवीर-हा) अवीरता का हनन करनेवाला, कायरता को प्राप्त न होनेवाला, तू, एक ओर (गय-स्फानः) सम्पन्न गृहों—परिवारों को संवर्धित-समुन्नत करता हुआ और दूसरी ओर दीन दुखी घरों-परिवारों को दुःख से (प्र-तरणः) प्रकृष्टतया तारता हुआ (दुर्यान् प्र-चर) दुर्यों के प्रति प्रचरण-प्रगमन-सुसेवा कर।

केवल मंचप्रचार से नहीं, परिवार-परिवार की सुसेवा से सार्वभौम देवयजन सम्पूर्ण होगा।

देवयजन के मिशनरियों के लिये देवयजन-अध्याय के इस अन्तिम मन्त्र में सार्वभौम दिव्यीकरण की एक उदात्त प्रेरणा संनिहित है। हमें विश्व का आर्यकरण ही नहीं, दिव्यीकरण भी करना है। तदर्थ हमें पृथिवी के उस प्रत्येक धाम में पहुंचना है, जहां कैसा भी मानव या मानव-परिवार निवास करता है।

हवि से जो सम्पन्न धाम हैं, वे सब तेरे,
हो हविशून्य प्रदेश यज्ञपरिधि में तेरी।
करता हुआ तू, सोम, गयस्फन और प्रतरण,
प्रचर घर-घर में कर दिव्यीकरण प्रजा का॥



# वेद के अध्ययन एवं भारतीय संस्कृति के ज्ञान का सर्वोत्तम सर्वसुलभ साधन

# स वि ता

[ वेदसंस्थान का मासिक पत्र ]

- वेदाध्ययन का सर्वश्रेष्ठ साधन
- वेदमन्त्रों की विदेहकृत जीवनप्रद व्याख्यायें
- ठोस, सुपच, पौष्टिक, प्रेरणाप्रद सामग्री से भरपूर

।। एक-एक शब्द पठनीय, मननीय, आचरणीय ।।
।। एक-एक तरङ्ग मानव को ऊंचा उठानेवाली ।।
।। एक-एक प्रेरणा जीवन को आगे लेजानेवाली ।।
।। एक-एक चेतावनी मानव को चेतानेवाली ।।

वार्षिक मूल्य—
देश में ... तीन रुपये
विदेशों में ... छः शिलिंग

स्वयं ग्राहक बनिये और अपने प्रिय जनों को बनाइये

पता—व्यवस्थापक, वेदसंस्थान, अजमेर

# संस्थान-साहित्य

## विदेहकृत वेदव्याख्याग्रन्थ

### १. प्रथम पुष्प (दो रुपये)

इसमें ऋग्वेद के प्रथम सूक्त [विषय ब्रह्माग्नि की अभिस्तुति], यजुर्वेद के प्रथम अध्याय [विषय श्रेष्ठ कर्म की साधना के लिये व्यक्तित्व का सुनिर्माण], सामवेद की प्रथम दशति [विषय ब्रह्माग्नि का आह्वान] तथा अथर्ववेद के प्रथम सूक्त [विषय वाचस्पति और शिष्य] की व्याख्या है।

### २. द्वितीय पुष्प (डेढ़ रुपये)

इसमें यजुर्वेद के द्वितीय अध्याय की व्याख्या है। इसका विषय है "श्रेष्ठतम कर्म की स्थिर परम्परा के लिये गृहस्थाश्रम की सुव्यवस्था"। इसके अवलोकन से संसार को गृहस्थाश्रम के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान और उसके महत्त्व का भान होगा।

### ३. तृतीय पुष्प (दो रुपये)

इसमें यजुर्वेद के तृतीय अध्याय की व्याख्या है। इसका विषय है "गृहस्थाश्रम में विविध कर्तव्य कर्मों का निर्वहन तथा जीवन के प्रत्येक पार्श्व में समस्त संघर्षों का संवहन करते हुए आत्मसाधना तथा आध्यात्मिक प्रसाधन के मार्ग का प्रशस्तीकरण"।

### ४. चतुर्थ पुष्प (एक रुपया)

इसमें यजुर्वेद के चौथे अध्याय की व्याख्या है। इसका विषय है "सम्पूर्ण पृथिवी का दिव्यीकरण"। हमें विश्व का आर्यकरण ही नहीं, दिव्यीकरण भी करना है। वह किस प्रकार ? यह इस ग्रन्थ के अवलोकन से ज्ञात होगा।

## विदेहकृत योगाभ्यास ग्रन्थमाला

### १. साधना (एक रुपया)

इसके प्रकाशन से राजयोग का राजमार्ग सबके लिये प्रशस्त होगया है। आदर्श चरित्र और आदर्श जीवन के निर्माण का यह सर्वोत्तम मार्गदर्शक है। विश्व-निर्माण की वास्तविक रूपरेखा इस ग्रन्थ से प्रकट होगी।

### २. वैदिक योगपद्धति (३७ न. पै.)

इस पुस्तक में वेदमन्त्रों के आधार पर कुल १२ शिक्षायें हैं। इन शिक्षाओं पर आचरण करने से योगाभ्यासियों को योगशील की प्राप्ति होगी। शील के बन जाने पर अभीष्ट की सिद्धि अतिशय सहज और सरल होजाती है।

### ३. सन्ध्या-योग (२५ न. पै.)

इसमें सन्ध्योपासना के मन्त्रों पर योग के आठों अंगों से समन्वित मौलिक और हृदयग्राही व्याख्या है, जिनके अनुशीलन और अभ्यास से अष्टाङ्ग योग की सिद्धि होगी।

### ४. गायत्री मन्त्र का अनुष्ठान (२५ न. पै.)

इस पुस्तक में प्रदर्शित पद्धति से गायत्री मन्त्र का अनुष्ठान करने से निश्चय ही देव सविता के वरेण्य भर्ग का साक्षात्कार होगा।

### ५. महामृत्युञ्जय मन्त्र का अनुष्ठान (२५ न.पै.)

विघ्न, बाधा, भोग, रोग, दरिद्रता, क्लेश और मृत्यु पर विजय प्राप्त करते हुए मोक्ष की प्राप्ति के लिये इस मन्त्र का अनुष्ठान किया जाता है। इस पुस्तक में इस मन्त्र के अनुष्ठान की शुद्ध विधि है।

## विदेहकृत अन्य प्रकाशन

### १. गायत्री (एक रुपया)

इस ग्रन्थरत्न में ऋग्वेद के ५२ गायत्री-छन्द-मन्त्रों पर लिखी गयी व्याख्यामय प्रार्थनाओं का हृदयग्राही संग्रह है। सभी प्रार्थनायें दैनिक जीवन में मार्ग प्रदर्शन करनेवाली और जीवन को ऊंचा उठानेवाली हैं।

### २. रामचरित (डेढ़ रुपये)

इस पुस्तक में वाल्मीकीय रामायण की कथा को धारावाही, सरस, सुबोध भाषा में प्रस्तुत किया गया है। साथ ही असम्भव व अलौकिक प्रतीत होनेवाली समस्त घटनाओं की समाधानकारक संगति भी लगायी गयी है।

### ३. स्वस्ति-याग (७५ न. पै.)

चारों वेदों के स्वस्ति, शं, शान्ति और ईशनमस्कार के मन्त्रों से समन्वित यह एक आदर्श यज्ञविधि है, जिससे चतुर्वेद पारायण यज्ञ का पुण्य-लाभ तो होता ही है, सुख शान्ति और प्रभु का आशीर्वाद भी प्राप्त होता है।

### ४. सार्वभौम आर्य साम्राज्य (५० न. पै.)

इसमें वेदमन्त्रों के आधार पर यह प्रदर्शित किया गया है कि किन आधारों पर और किस प्रकार भारत को आर्य राष्ट्र बनाकर विश्व में सार्वभौम आर्य साम्राज्य की प्रस्थापना की जा सकती है।

### ५. वैदिक बालशिक्षा, प्रथम भाग (

### ६. वैदिक बालशिक्षा, द्वितीय भाग(

प्रत्येक भाग में वेदसूक्तियों के आधार मनोहर शिक्षायें हैं। अपने प्राणप्रिय बच्चे सुशील, सदाचारी, धर्मात्मा और मर्यादापा लिये ये आदर्श पुस्तकें उनके हाथों में दीजिये

### ७. संस्कृत-शिक्षा, प्रथम भाग (१

इसमें वेद, संस्कृत व हिन्दी के शुद्धोच्चारण के सब नियम बड़ी सरलता से समझाये गये हैं।

### ८. संस्कृत-शिक्षा, द्वितीय भाग (३७ न. पै.)

इससे वेद, संस्कृत व हिन्दी के सन्धि-नियमों का अध्ययन नितान्त सरल और सुगम होगया है।

### ९. सत्यनारायण की कथा (३७ न. पै.)

वेदमन्त्रों के आधार पर लिखी गयी इस कथा का कुल कार्यक्रम एक घण्टे का है। कथा की रीति अतिशय सरल और रोचक है। सत्यनारायण के स्वरूप और सत्यनारायण के साक्षात्कार के उपायों का बड़े सुन्दर ढंग से उद्घाटन किया गया है।

### १०. सत्सङ्ग-गीतावली (३७ न. पै.)

सत्संग में गाये जाने योग्य विदेह-रचित आत्मगीतों का यह सुन्दर संग्रह है। पक्के राग भी इसमें पर्याप्त संख्या में हैं।

### ११. यज्ञोपवीत-रहस्य (६ न. पै.)

इस पुस्तिका में यज्ञोपवीत-धारण के रहस्य समाधान-कारक रीति से समझाये हैं।

### १२. दिव्य भावना (६ न. पै.)

संक्षिप्त और सुन्दर आत्मशंसन [Autosuggestion]।

### १३. दयानन्द-चरितामृत (एक रुपया)

तुलसीकृत रामायण की शैली पर सरल सरस भाषा में लिखा गया यह ग्रन्थ महर्षि दयानन्द की जीवनगाथा को रोचकता के साथ घर-घर पहुंचायेगा।

### १४. वैदिक सत्सङ्ग (३७ न. पै.)

दैनिक, साप्ताहिक, पाक्षिक तथा मासिक सत्संगों के लिये यह एक आदर्श पद्धति है। सन्ध्या, हवन तथा शान्ति-पाठ के मन्त्रों का सुबोध अर्थ भी दिया हुआ है।

**पता:—व्यवस्थापक, वेदसंस्थान, अजमेर**